श्रीईशोपनिषद्

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

इस ग्रंथ की विषयवस्तु में जिज्ञासु पाठकगण अपने निकटस्थ किसी भी इस्कोन केन्द्र से अथवा निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करने के लिए आमंत्रित हैं :

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
हरे कृष्ण धाम
जुहू, मुंबई ४०० ०४९

वेब / ई-मेल :
www.indiabbt.com
bbtadmin@pamho.net

Śrī Īśopaniṣad (Hindi)

First Printing : 5,000 copies
2nd to 13th Printings : 1,65,000 copies
14th Printing : 20,000 copies

© १९७५ भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
सर्वाधिकार सुरक्षित

ISBN : 978-93-82716-24-2

प्रकाशक की अनुमति के बिना इस पुस्तक के किसी भी अंश को पुनरुत्पादित, प्रतिलिपित नहीं किया जा सकता। किसी प्राप्य प्रणाली में संग्रहित नहीं किया जा सकता अथवा अन्य किसी भी प्रकार से चाहे इलेक्ट्रोनिक, मेकेनिकल, फोटोकॉपी, रिकार्डिंग से संचित नहीं किया जा सकता। इस शर्त का भंग करने वाले पर उचित कानूनी कार्यवाही की जाएगी।

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रित।

AL3T

विषय सूची

भूमिका .... *vii*
ईश-स्तुति १
मंत्र एक ५
मंत्र दो १२
मंत्र तीन १७
मंत्र चार २२
मंत्र पाँच २६
मंत्र छह ३२
मंत्र सात ३७
मंत्र आठ ४२
मंत्र नौ ४९
मंत्र दस ५५
मंत्र ग्यारह ६२
मंत्र बारह ७०
मंत्र तेरह ७८
मंत्र चौदह ८९
मंत्र पन्द्रह ९७
मंत्र सोलह १०५
मंत्र सत्रह १११
मंत्र अठारह १२२

लेखक–परिचय १२८
सन्दर्भ १२९
विशिष्ट शब्दावलि १३०
श्लोकानुक्रमणिका १३६
उद्धृत श्लोकों की अनुक्रमणिका १३८
शब्द–सूची १४१

भूमिका

"वेदों की शिक्षाएँ"

(कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा ६ अक्तूबर १९६९ को कॉन्वे हॉल, लन्दन, इंगलैंड में दिया गया एक प्रवचन)

देवियों तथा सज्जनों, आज के प्रवचन का विषय है "वेदों की शिक्षाएँ।" वेद क्या हैं? संस्कृत में वेद शब्द की मूल धातु की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है, लेकिन अन्ततः उसका तात्पर्य एक ही है। वेद का अर्थ है 'ज्ञान'। कोई भी ज्ञान जिसे आप स्वीकार करते हैं, वह वेद है, क्योंकि वेदों की शिक्षाएँ मूल ज्ञान हैं। बद्ध अवस्था में हमारे ज्ञान में अनेक अपूर्णताएँ रहती हैं। बद्ध आत्मा तथा मुक्त आत्मा में अन्तर यह होता है कि बद्ध आत्मा में चार प्रकार के दोष पाए जाते हैं। पहला दोष यह है कि वह त्रुटियाँ करता ही है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में महात्मा गांधी अत्यन्त महान् पुरुष माने जाते थे, लेकिन उन्होंने अनेक त्रुटियाँ कीं। यहाँ तक कि अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में उनके सहायक ने उन्हें सावधान किया था, "गांधीजी, आप नई दिल्ली की सभा में न जाएँ।

मेरे कुछ मित्र हैं और मैंने उनसे सुना है कि वहाँ खतरा है।" किन्तु उन्होंने एक न सुनी। उन्होंने जाने का हठ किया और वे मारे गए। महात्मा गांधी तथा राष्ट्रपति केनेडी जैसे महान् व्यक्ति भी—ऐसे अनेक लोग हैं—त्रुटियाँ करते हैं। त्रुटि करना मनुष्य का स्वभाव है। यह बद्ध आत्मा का एक दोष है।

दूसरा दोष है भ्रमित होना। भ्रम का अर्थ है, जो नहीं है उसे स्वीकार करना अर्थात् *माया*। माया का अर्थ है "जो नहीं है।" प्रत्येक व्यक्ति शरीर को 'स्व' मान बैठता है। यदि मैं आपसे पूछूँ कि आप क्या हैं तो आप कहेंगे, "मैं मिस्टर जॉन हूँ; मैं धनी व्यक्ति हूँ; मैं यह हूँ; मैं वह हूँ।" ये सब देह से सम्बन्धित परिचय हैं। किन्तु आप यह शरीर नहीं हैं। यह भ्रम है।

तीसरा दोष है धोखा देने की प्रवृत्ति। प्रत्येक व्यक्ति में दूसरों को ठगने की प्रवृत्ति पाई जाती है। कोई व्यक्ति पहले दर्जे का मूर्ख क्यों न हो, किन्तु वह भी अत्यन्त बुद्धिमान होने का दिखावा करता है। यद्यपि यह पहले कहा जा चुका है कि वह भ्रान्ति में है और त्रुटियाँ करता है, लेकिन वह सिद्धान्त बनाता है, "मैं सोचता हूँ कि यह ऐसा है, वह वैसा है।" लेकिन उसे अपनी खुद की स्थिति का भी ज्ञान नहीं होता। वह दर्शन पर पुस्तकें लिखता है, यद्यपि वह अपूर्ण है। यही उसका रोग है। यही धोखाधड़ी है।

अन्तिम बात यह है कि हमारी इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं। हमें अपनी आँखों पर बड़ा गर्व रहता है। प्रायः कोई व्यक्ति चुनौती देगा, "क्या तुम मुझे ईश्वर दिखा सकते हो?" लेकिन क्या आपके पास ईश्वर का दर्शन करने के लिए आँखें हैं भी? यदि आपके पास आँखें नहीं हैं, तो आप उनके दर्शन कभी नहीं कर सकोगे। यदि एकाएक कमरे में अँधेरा हो जाए, तो आप अपने हाथों को भी नहीं देख सकते। अतएव आपके पास देखने की शक्ति ही क्या है? अतः हम अपनी इन अपूर्ण इन्द्रियों से ज्ञान (वेद) प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं कर सकते। बद्धावस्था में इन सारे दोषों के होते हुए हम किसी को पूर्ण ज्ञान प्रदान नहीं कर सकते। न ही हम स्वयं सम्पूर्ण हैं। अतएव हम वेदों को यथारूप में स्वीकार करते हैं।

आप वेदों को 'हिन्दू' कह सकते हैं लेकिन 'हिन्दू' नाम विदेशी है। हम 'हिन्दू' नहीं हैं। हमारी असली पहचान वर्णाश्रम है। वर्णाश्रम वेदों के उन अनुयायियों का सूचक है, जो मानव समाज में वर्ण तथा आश्रम के आठ विभागों को स्वीकार करते हैं। चार विभाग समाज के हैं और चार विभाग आध्यात्मिक जीवन के हैं। यह वर्णाश्रम कहलाता है। *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा गया है, "ये विभाग सर्वत्र पाए जाते हैं, क्योंकि ये ईश्वर द्वारा सृजित हैं।" समाज के विभाग हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। ब्राह्मण अत्यन्त बुद्धिमान वर्ग के उन मनुष्यों का सूचक है, जो यह जानते हैं कि ब्रह्म क्या है। इसी प्रकार क्षत्रिय या प्रशासक वर्ग बुद्धिमान मनुष्यों का अन्य वर्ग है। तब वैश्य अर्थात् व्यापारी वर्ग आता है। यह प्राकृतिक वर्गीकरण सर्वत्र पाया जाता है। यही वैदिक सिद्धान्त है और हम इसे स्वीकार करते हैं। वैदिक सिद्धान्त स्वयं-सिद्ध सत्य के रूप में स्वीकार किए जाते हैं, क्योंकि उनमें कोई त्रुटि नहीं हो सकती। यही स्वीकृति है। उदाहरणार्थ, भारत में गोबर को शुद्ध माना जाता है; फिर भी गोबर पशु का मल है। एक स्थान पर आप यह वैदिक आदेश पाएँगे कि यदि आप मल को छू लेते हैं, तो आपको तुरन्त स्नान करना होगा। लेकिन दूसरे स्थान पर यह कहा

गया है कि गाय का मल (गोबर) शुद्ध होता है। यदि आप किसी अशुद्ध स्थान को गोबर से लीप दें, तो वह शुद्ध हो जाता है। हम साधारणतया यह तर्क कर सकते हैं, "यह विरोधाभास है।" वास्तव में सामान्य दृष्टि में यह विरोधाभास लगता है, लेकिन यह गलत नहीं है। यह तथ्य है। कलकत्ता के एक प्रमुख विज्ञानी तथा डॉक्टर ने गोबर का विश्लेषण करके यह पता लगाया है कि इसमें समस्त रोगाणुनाशक गुण पाए जाते हैं।

भारत में यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से कहता है, "तुम्हें यह करना चाहिए" तो दूसरा व्यक्ति यह कह सकता है, "तुम क्या कहना चाहते हो? क्या यह कोई वैदिक आदेश है, जो मैं बिना तर्क के तुम्हारा कहना मान लूँ?" वैदिक आदेशों की व्याख्या नहीं की जा सकती। लेकिन अन्ततः यदि आप ध्यानपूर्वक अध्ययन करें कि ये आदेश क्यों हैं, तो आप पाएँगे कि ये सभी सही हैं।

वेद मानवीय ज्ञान के संकलन नहीं हैं। वैदिक ज्ञान आध्यात्मिक जगत से अर्थात् भगवान् कृष्ण से आता है। वेदों का अन्य नाम *श्रुति* है। श्रुति उस ज्ञान की सूचक है, जिसे सुनकर अर्जित किया जाता है। यह प्रायोगिक ज्ञान नहीं है। श्रुति माता के तुल्य मानी जाती है। बहुत सारा ज्ञान हमें अपनी माता से ही प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, यदि आप जानना चाहें कि आपका पिता कौन है, तो इसका उत्तर कौन दे सकता है? आपकी माता। यदि माता कहती है, "ये रहे तुम्हारे पिता" तो आपको यह स्वीकार करना पड़ता है। प्रयोग करके यह ज्ञात कर पाना सम्भव नहीं है कि वह आपका पिता है कि नहीं। इसी तरह यदि आप अपने अनुभव से

परे, अपने प्रायोगिक ज्ञान से परे, अपनी इन्द्रियों के कार्यों से परे कुछ जानना चाहते हैं, तो आपको वेदों को स्वीकार करना होगा। इसमें प्रयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका प्रयोग पहले ही हो चुका है। यह निश्चित हो चुका है। उदाहरणार्थ, माता के कथन को सत्य मानना होता है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं होता है।

वेदों को माता माना जाता है और ब्रह्माजी पितामह, पूर्वज कहलाते हैं, क्योंकि सर्वप्रथम उन्हें ही वैदिक ज्ञान की शिक्षा दी गई थी। प्रारम्भ में प्रथम जीव ब्रह्माजी ही थे। उन्होंने यह वैदिक ज्ञान प्राप्त किया और इसे नारद तथा अन्य शिष्यों और पुत्रों को प्रदान किया, जिन्होंने इसे पुनः अपने-अपने शिष्यों में वितरित किया। इस प्रकार वैदिक ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा आगे चलता आता है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि की गई है कि वैदिक ज्ञान इसी विधि से समझा जाता है। यदि आप प्रयोगात्मक प्रयास करें, तो भी आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे, लेकिन समय की बचत करने की दृष्टि से आपको इसे स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि आप यह जानना चाहते हैं कि आपके पिता कौन हैं और यदि आप अपनी माता को प्रमाण स्वरूप मान लेते हैं, तो वे जो कुछ कहती हैं उसे आप बिना किसी तर्क के स्वीकार कर सकते हैं। साक्ष्य (प्रमाण) के तीन प्रकार हैं—*प्रत्यक्ष, अनुमान* तथा *शब्द*। प्रत्यक्ष का अर्थ है सीधा प्रमाण। प्रत्यक्ष प्रमाण बहुत अच्छा नहीं होता, क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ पूर्ण नहीं हैं। हम नित्य ही सूर्य को देखते हैं और हमें यह एक छोटी सी थाली जैसा लगता है, किन्तु वास्तव में यह अनेक ग्रहों की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल है। तो ऐसे देखना किस काम

का? अतएव हमें पुस्तकें पढ़नी होंगी; तब हम सूर्य के विषय में समझ सकते हैं। अत: प्रत्यक्ष अनुभव पूर्ण नहीं होता। तब आता है अनुमान—अनुमानित ज्ञान—जिसकी कल्पना है, "यह ऐसा हो सकता है।" उदाहरणार्थ, डार्विन का सिद्धान्त बताता है कि यह ऐसा हो सकता है, यह वैसा हो सकता है। लेकिन यह कोई विज्ञान नहीं है। यह एक सुझाव है और यह पूर्ण भी नहीं है। किन्तु यदि आप प्रामाणिक स्रोतों से ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो वह पूर्ण है। यदि आपको रेडियो स्टेशन के अधिकारियों से कोई कार्यक्रम-निर्देशिका प्राप्त हो, तो आप उसे स्वीकार कर लेते हैं। आप उसे अस्वीकार नहीं करते। इसके लिए आपको प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह ज्ञान प्रामाणिक स्रोतों से प्राप्त हुआ है।

वैदिक ज्ञान को शब्द-प्रमाण कहा जाता है। इसका दूसरा नाम श्रुति है। श्रुति का अर्थ यह है कि इस ज्ञान को मात्र श्रवण विधि द्वारा प्राप्त करना होता है। वेदों का आदेश है कि दिव्य ज्ञान को समझने के लिए हमें अधिकारी (प्रामाणिक व्यक्ति) से सुनना चाहिए। दिव्य ज्ञान इस ब्रह्माण्ड की उस पार से आया हुआ ज्ञान है। इस ब्रह्माण्ड के भीतर तो भौतिक ज्ञान है और इस ब्रह्माण्ड के परे दिव्य ज्ञान है। हम ब्रह्माण्ड के अन्तिम छोर तक भी नहीं जा सकते, तो भला हम आध्यात्मिक जगत तक कैसे जा सकते हैं? इस तरह पूर्ण ज्ञान अर्जित कर पाना असम्भव है।

एक आध्यात्मिक आकाश है। वहाँ अन्य प्रकृति है, जो व्यक्त तथा अव्यक्त के परे है। लेकिन आप यह कैसे जानेंगे कि एक ऐसा भी आकाश है, जहाँ के ग्रह तथा निवासी शाश्वत हैं? यह सारा ज्ञान

उपलब्ध है, लेकिन आप प्रयोग कैसे करेंगे? यह सम्भव नहीं है। अतएव आपको वेदों की सहायता लेनी होगी। यह वैदिक ज्ञान कहलाता है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हम ज्ञान को सर्वोच्च अधिकारी अर्थात् कृष्ण से ग्रहण करते हैं। कृष्ण को सभी वर्ग के लोग सर्वोच्च प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। मैं सर्वप्रथम दो प्रकार के अध्यात्मवादियों के विषय में बात करूँगा। अध्यात्मवादियों का एक वर्ग निर्विशेषवादी या मायावादी कहलाता है। ये सामान्यतया वेदान्ती कहलाते हैं, जिनमें शंकराचार्य प्रमुख हैं। दूसरे प्रकार के अध्यात्मवादी वैष्णव कहलाते हैं—यथा रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी। शंकर सम्प्रदाय तथा वैष्णव सम्प्रदाय दोनों ने ही कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार किया है। शंकराचार्य को निर्विशेषवादी माना जाता है, क्योंकि उन्होंने निर्विशेषवाद या निराकार ब्रह्म का उपदेश दिया, लेकिन यह तथ्य है कि वे प्रच्छन्न साकारवादी थे। उन्होंने *भगवद्गीता* पर अपने भाष्य में लिखा है, "पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण इस दृश्य जगत से परे हैं।" और आगे फिर वे इसकी पुष्टि करते हैं, "वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण स्वयं कृष्ण हैं। वे देवकी तथा वसुदेव के पुत्र-रूप में अवतरित हुए हैं।" उन्होंने उनके माता-पिता के नामों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। अत: सभी अध्यात्मवादी कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार करते हैं। इस विषय में कोई सन्देह नहीं है। कृष्णभावनामृत में हमारे ज्ञान का स्रोत प्रत्यक्षत: *भगवद्गीता* है, जो सीधे कृष्ण से आई है। हमने *भगवद्गीता यथारूप* प्रकाशित की है, क्योंकि हमने कृष्ण जिस रूप में बोलते हैं, उसी रूप में उन्हें बिना

अपनी किसी व्याख्या के स्वीकार किया है। यही वैदिक ज्ञान है। चूँकि वैदिक ज्ञान शुद्ध है, अतएव हम इसे स्वीकार करते हैं। कृष्ण जो भी कहते हैं, हम स्वीकार करते हैं। यही कृष्णभावनामृत है। इससे समय की काफी बचत होती है। यदि आप सही प्रमाण या ज्ञान-स्रोत को स्वीकार करते हैं, तो आपके समय की काफी बचत होती है। उदाहरणार्थ, भौतिक जगत में ज्ञान की दो पद्धतियाँ हैं— निगमनिक तथा आगमनिक। निगमनिक विधि में आप स्वीकार करते हैं कि मनुष्य मर्त्य है। आपके पिता कहते हैं कि मनुष्य मर्त्य प्राणी है; आपकी बहन कहती है, मनुष्य मर्त्य प्राणी है; हर कोई कहता है कि मनुष्य मर्त्य है, लेकिन आप कोई प्रयोग नहीं करते। आप इसे तथ्य रूप में स्वीकार कर लेते हैं कि मनुष्य मर्त्य है। यदि आप यह ज्ञात करने के लिए शोध करना चाहें कि क्या मनुष्य मर्त्य है, तो आपको हर मनुष्य का अध्ययन करना होगा और तब आप यह सोच सकते हैं कि हो सकता है कि कोई ऐसा मनुष्य हो, जो न मरे लेकिन आपने उसे अभी तक देखा न हो। इस तरह आपका शोधकार्य कभी समाप्त नहीं होगा। संस्कृत में यह विधि *आरोह* अर्थात् ऊपर जाने की विधि कहलाती है। यदि आप अपनी अपूर्ण इन्द्रियों के द्वारा अपने किसी निजी प्रयास से ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो आप कभी भी सही निष्कर्ष तक नहीं पहुँचेंगे। ऐसा सम्भव नहीं है।

ब्रह्म-संहिता में एक कथन है : आप ऐसे वायुयान पर सवार हो जाइए, जो मन की गति से उड़ रहा हो। हमारे भौतिक वायुयान २,००० मील प्रति घण्टे की गति से उड़ सकते हैं, लेकिन मन की क्या गति होती है? आप अपने घर में बैठे बैठे भारत के विषय में

सोचें, जो मान लीजिए १०,००० मील दूर है, तो तुरन्त ही यह आपके घर में पहुँच जाता है। आपका मन वहाँ पहुँच गया है। मन का वेग इतना तेज है। अतएव यह कहा गया है, "यदि आप लाखों वर्षों तक इस गति से यात्रा करें, तो भी आप पाएँगे कि आध्यात्मिक आकाश असीम है। उस तक पहुँच पाना भी सम्भव नहीं है। अतएव वैदिक आदेश यह है कि मनुष्य को प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु के पास अनिवार्यतः जाना ही चाहिए। यहाँ पर 'अनिवार्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। और आध्यात्मिक गुरु की योग्यता क्या होनी चाहिए? उसने वैदिक सन्देश को सही स्रोत से और सही ढंग से सुना होना चाहिए। उसे ब्रह्म में दृढ़ता से स्थापित होना चाहिए। ये ही दो गुण हैं। अन्यथा वह प्रामाणिक नहीं है।

यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन वैदिक सिद्धान्तों के द्वारा पूर्णतः प्रामाणिक है। *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं, "वैदिक शोध का वास्तविक उद्देश्य कृष्ण की खोज करना है।" ब्रह्म-संहिता में भी कहा गया है, "कृष्ण अर्थात् गोविन्द के अनगिनत रूप हैं, लेकिन वे सब एक हैं।" वे हमारे रूप जैसे नहीं हैं, जो विनाशशील हैं। उनका स्वरूप अच्युत है। मेरे स्वरूप का प्रारम्भ है, लेकिन उनके स्वरूप का कोई आदि नहीं होता—वह अनन्त है और उनका रूप, उनके अनेक रूप भी अनन्त हैं। मेरा रूप तो यहाँ बैठा है; वह मेरे घर में नहीं है। आप वहाँ बैठे हैं और अपने घर में नहीं हैं। लेकिन कृष्ण एक ही समय प्रत्येक स्थान पर हो सकते हैं। वे गोलोक वृन्दावन में बैठे रह सकते हैं और उसी समय वे सर्वत्र उपस्थित रह सकते हैं, अर्थात् वे सर्वव्यापी हैं। वे आदि, सबसे प्राचीन हैं लेकिन आप जब भी कृष्ण के चित्र को देखते हैं, तो वे पन्द्रह-

बीस वर्ष के तरुण दिखते हैं। आप कभी भी उन्हें वृद्ध नहीं पाएँगे। आपने *भगवद्गीता* में सारथी रूप में कृष्ण का चित्र देखा है। उस समय वे सौ वर्ष से कम आयु के नहीं थे। उनके प्रपौत्र थे, लेकिन तब भी वे किशोर जैसे लगते थे। कृष्ण अर्थात् ईश्वर कभी बूढ़े नहीं होते। यह उनकी परम शक्ति है। और यदि आप वैदिक साहित्य का अध्ययन करके कृष्ण की खोज करना चाहते हैं, तो आप भ्रमित हो जाएँगे। ऐसा करना सम्भव हो सकता है, लेकिन है अत्यन्त कठिन। लेकिन आप उनके भक्त से उनके विषय में आसानी से जान सकते हैं। उनका भक्त उन्हें आपको दे सकता है, "ये रहे वे, उन्हें स्वीकार करो।" यह है कृष्ण के भक्तों की शक्ति।

प्रारम्भ में केवल एक वेद था और उसके पढ़ने की आवश्यकता नहीं थी। लोग इतने बुद्धिमान होते थे एवं उनकी स्मरण शक्ति इतनी तीव्र होती थी कि एक बार आध्यात्मिक गुरु के मुख से सुनकर ही वे इसे समझ लेते थे। वे सम्पूर्ण तात्पर्य को तुरन्त ही ग्रहण कर लेते थे। लेकिन पाँच हजार वर्ष पूर्व व्यासदेव ने इस कलियुग के लोगों के लिए वेदों का लिखित रूप प्रदान किया। उन्हें पता था कि अन्ततोगत्वा लोग अल्पायु होंगे, उनकी स्मरण शक्ति अत्यन्त क्षीण होगी और उनकी बुद्धि इतनी तीव्र नहीं होगी। "अतएव मुझे इस वैदिक ज्ञान को लिखित रूप देकर शिक्षा देनी चाहिए।" उन्होंने वेदों के चार विभाग किए—ऋक्, साम, अथर्व तथा यजुर्। तब उन्होंने इन वेदों का कार्यभार अपने विभिन्न शिष्यों को सौंप दिया। तब उन्हें मनुष्यों की अल्पज्ञ श्रेणी—स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धु—का ध्यान आया। उन्होंने स्त्री जाति, शूद्र जाति (श्रमिक) तथा द्विजबन्धु पर विचार किया। द्विजबन्धु वे हैं, जो

उच्च कुल में जन्म तो लेते हैं, लेकिन सम्यक् रूप से योग्य नहीं होते। ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न मनुष्य को यदि ब्राह्मण के रूप में योग्यता प्राप्त नहीं है, तो वह द्विजबन्धु कहलाता है। ऐसे लोगों के लिए उन्होंने भारत का इतिहास कहलाने वाले महाभारत का तथा अठारह पुराणों का संकलन किया। इस तरह सारे पुराण, महाभारत, चारों वेद तथा अनेक उपनिषद्—ये सब वैदिक साहित्य के अंश हैं। उपनिषद् वेदों के अंश हैं। तत्पश्चात् व्यासदेव ने विद्वानों तथा दार्शनिकों के लिए समस्त वैदिक ज्ञान का सार वेदान्त सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया। यह वेदों का अन्तिम वचन है।

व्यासदेव ने अपने गुरु महाराज नारदजी के आदेशानुसार वेदान्त सूत्र की रचना की, लेकिन फिर भी वे सन्तुष्ट नहीं हुए। यह एक लम्बी कथा है, जिसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* में किया गया है। व्यासदेव अनेक पुराणों तथा उपनिषदों का संकलन कर लेने के बाद और यहाँ तक कि वेदान्त सूत्र लिखने के बाद भी अधिक सन्तुष्ट नहीं थे। तब उनके गुरु नारदजी ने आदेश दिया, "आप वेदान्त सूत्र की व्याख्या करो।" वेदान्त का अर्थ है, "चरम ज्ञान" और चरम ज्ञान कृष्ण हैं। कृष्ण कहते हैं कि समस्त वेदों में मनुष्य को कृष्ण को ही जानना चाहिए। *वेदान्तकृद् वेदविद् एव चाहम्।* कृष्ण कहते हैं, "मैं वेदान्त का संकलनकर्ता हूँ और वेदों का ज्ञाता भी मैं ही हूँ।" अतएव चरम लक्ष्य तो कृष्ण हैं। वेदान्त दर्शन के समस्त वैष्णव भाष्यों में इसकी व्याख्या की गई है। हम गौड़ीय वैष्णवों का वेदान्त-दर्शन पर हमारा अपना भाष्य है, जो *गोविन्द भाष्य* कहलाता है और यह बलदेव विद्याभूषण द्वारा प्रणीत है। इसी प्रकार रामानुजाचार्य कृत भाष्य है और मध्वाचार्य का भी भाष्य है।

शंकराचार्य का भाष्य ही एकमात्र भाष्य नहीं है। वैसे तो वेदान्त के अनेक भाष्य हैं, लेकिन चूँकि वैष्णवों ने वेदान्त भाष्य प्रथम प्रस्तुत नहीं किया, अतएव लोगों में यह गलतफहमी बनी हुई है कि शंकराचार्य द्वारा लिखित वेदान्त भाष्य ही एकमात्र भाष्य है। इसके अतिरिक्त स्वयं वेदव्यास ने पूर्ण वेदान्त भाष्य—*श्रीमद्भागवत*—लिखा है। *श्रीमद्भागवत* वेदान्त सूत्र के प्रथम वाक्य से प्रारम्भ होता है—*जन्माद्यस्य यतः।* इस *जन्माद्यस्य यतः* की पूर्ण विवेचना *श्रीमद्भागवत* में हुई है। वेदान्त सूत्र केवल इतना ही इंगित करता है कि परम सत्य या ब्रह्म क्या है, "परम सत्य वे हैं, जिनसे प्रत्येक वस्तु उद्भूत है।" यह सारांश है, किन्तु *श्रीमद्भागवत* में इसकी विशद् व्याख्या हुई है। यदि प्रत्येक वस्तु परम सत्य से उद्भूत है, तो उन परम सत्य की प्रकृति क्या है? इसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* में की हुई है। परम सत्य को चेतना स्वरूप होना चाहिए। वे *स्वराट्* (स्वतः तेजमान) हैं। हम अन्यों से ज्ञान प्राप्त करके अपनी चेतना तथा ज्ञान को विकसित करते हैं, लेकिन भगवान् के लिए कहा गया है कि वे *स्वराट्* अर्थात् स्वतः तेजमान हैं। वैदिक ज्ञान का सम्पूर्ण सार वेदान्त सूत्र है और इस वेदान्त सूत्र की व्याख्या लेखक ने स्वयं ही *श्रीमद्भागवत* में की है। अन्त में हमारा निवेदन है कि जो लोग वास्तव में वैदिक ज्ञान की व्याख्या समझना चाहते हैं, वे उसे *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* के द्वारा समझने का प्रयास करें। •

ईश-स्तुति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ—पूर्ण; **पूर्णम्**—सभी तरह से पूर्ण; **अदः**—वे; **पूर्णम्**—पूर्ण; **इदम्**—यह व्यवहार (दृश्य) जगत; **पूर्णात्**—पूर्ण से; **पूर्णम्**—पूर्ण इकाई; **उदच्यते**—उत्पन्न होता है; **पूर्णस्य**—पूर्ण का; **पूर्णम्**—पूर्णतः, सब; **आदाय**—लेने पर; **पूर्णम्**—पूर्ण शेष; **एव**—ही; **अवशिष्यते**—बचा रहता है।

अनुवाद

भगवान् परिपूर्ण हैं और चूँकि वे पूरी तरह से पूर्ण हैं, अतएव उनसे होने वाले सारे उद्भव जैसे कि यह दृष्य जगत, पूर्ण इकाई के रूप में परिपूर्ण हैं। पूर्ण से जो कुछ उत्पन्न होता है, वह भी अपने आप में पूर्ण होता है। चूँकि वे सम्पूर्ण हैं, अतएव उनसे यद्यपि न जाने कितनी पूर्ण इकाइयाँ उद्भूत होती हैं, तो भी वे पूर्ण रहते हैं।

तात्पर्य

परम पूर्ण या सर्वोपरि परम सत्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। निर्विशेष ब्रह्म या परमात्मा की अनुभूति परम पूर्ण की अधूरी अनुभूति है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तो *सच्चिदानन्द विग्रह* हैं और निर्विशेष ब्रह्म की अनुभूति उनके *सत्* पहलू या उनके शाश्वत होने

की अनुभूति है तथा परमात्मा की अनुभूति उनके *सत्* तथा *चित्* पहलूओं की अनुभूति है, जो उनकी शाश्वतता तथा ज्ञान को सूचित करते हैं। किन्तु भगवान् की अनुभूति सारे दिव्य स्वरूपों—*सत्, चित* तथा *आनन्द*—की अनुभूति है। जब किसी को परम पुरुष की अनुभूति हो जाती है, तो वह परम सत्य के इन पहलूओं का भी पूर्ण रूप में अनुभव करता है। *विग्रह* का अर्थ है रूप। अतः परम सत्य रूपविहीन (निराकार) नहीं है। यदि वे रूपविहीन होते या यदि वे अपनी सृष्टि की अपेक्षा किसी भी तरह कम होते, तो वे पूर्ण नहीं हो सकते थे। परम पूर्ण में हमारे अनुभव के भीतर तथा बाहर की प्रत्येक वस्तु होनी चाहिए, अन्यथा वे पूर्ण नहीं हो सकते।

परम पूर्ण, भगवान् में अनन्त शक्तियाँ होती हैं और वे सब की सब उन्हीं के समान पूर्ण होती हैं। इस तरह यह दृश्य भौतिक जगत भी अपने में पूर्ण है। ये चौबीस तत्त्व जिनका यह भौतिक ब्रह्माण्ड अस्थायी प्राकट्य है, इस तरह व्यवस्थित किये गये हैं कि इस ब्रह्माण्ड के पालन तथा भरण के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु उत्पन्न कर सकें। ब्रह्माण्ड का पालन करने के लिए इसकी किसी अन्य इकाई को बाह्य प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्माण्ड अपने निजी काल-माप के अनुसार कार्य करता है, जो परम पूर्ण की शक्ति द्वारा निश्चित किया गया है और जब वह कालावधि पूरी हो जाती है, तो यह अस्थायी अभिव्यक्ति परम पूर्ण की सम्पूर्ण व्यवस्था से विनष्ट हो जाती है।

छोटी पूर्ण इकाइयों (जीवों) को सारी सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, जिससे वे उन परम पूर्ण की अनुभूति कर सकें। परम पूर्ण के अधूरे ज्ञान के कारण ही विभिन्न प्रकार की अपूर्णताओं का अनुभव होता है। मनुष्य जीवन जीव की चेतना का पूर्ण प्राकट्य है और यह चेतना जन्म और मृत्यु के चक्र में ८४,००,००० योनियों से विकसित होने के बाद मिलती है। यदि जीव अपनी पूर्ण चेतना युक्त इस मानव जीवन में परम पूर्ण से सम्बन्धित अपनी पूर्णता की अनुभूति नहीं करता, तो वह अपनी पूर्णता की अनुभूति करने का अवसर खो देता है और भौतिक प्रकृति के नियम द्वारा पुनः विकास-चक्र में डाल दिया जाता है।

चूँकि हम यह नहीं जानते कि हमारे पालन के लिए प्रकृति में पूर्ण व्यवस्था है, अतएव हम इन्द्रियभोग के तथाकथित पूर्ण जीवन की सृष्टि करने के लिए प्रकृति के साधनों का उपयोग करने का प्रयास करते हैं। चूँकि जीव परम पूर्ण से सम्बद्ध हुए बिना इन्द्रिय-जीवन का भोग नहीं कर सकता, अतएव इन्द्रियभोग का भ्रमयुक्त जीवन मोह माना जाता है। शरीर का हाथ तभी तक पूर्ण इकाई है, जब तक वह सम्पूर्ण शरीर से जुड़ा हुआ रहता है। जब हाथ को शरीर से काटकर अलग कर दिया जाता है, तो वह हाथ की तरह प्रतीत तो होता है, लेकिन वस्तुतः उसमें हाथ की एक भी शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार सारे जीव परम पूर्ण के अंश हैं और यदि उन्हें उस परम पूर्ण से पृथक् कर दिया जाए, तो पूर्णता की भ्रामक अभिव्यक्ति उन्हें पूर्णतया तुष्ट नहीं कर सकती।

मनुष्य जीवन की पूर्णता की अनुभूति तभी हो सकती है, जब वह उस परम पूर्ण की सेवा में लग जाये। इस संसार की सारी सेवाएँ, चाहे वे सामाजिक, राजनैतिक, साम्प्रदायिक, अन्तर्राष्ट्रीय हों या अन्तर्ग्रहीय भी हों, तब तक अपूर्ण बनी रहेंगी, जब तक उन्हें

परम पूर्ण के साथ सम्बन्धित न कर दिया जाए। जब प्रत्येक वस्तु सम्पूर्ण से जुड़ जाती है, तो उससे संलग्न सारे अंश भी अपने आप में पूर्ण हो जाते हैं। •

मंत्र एक

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥ १॥

ईश—भगवान् द्वारा; **आवास्यम्**—नियंत्रित; **इदम्**—यह; **सर्वम्**—समस्त; **यत् किञ्च**—जो भी; **जगत्याम्**—ब्रह्माण्ड के भीतर; **जगत्**—जड़-चेतन, सब कुछ; **तेन**—उनके द्वारा; **त्यक्तेन**—पृथक् रखा गया भाग; **भुञ्जीथाः**—तुम्हें स्वीकार करना चाहिए; **मा**—नहीं; **गृधः**—प्राप्त करने का प्रयास; **कस्य स्विद्**—अन्य किसी की; **धनम्**—सम्पत्ति को।

अनुवाद

इस ब्रह्माण्ड के भीतर की प्रत्येक जड़ अथवा चेतन वस्तु भगवान् द्वारा नियंत्रित है और उन्हीं की सम्पत्ति है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपने लिए केवल उन्हीं वस्तुओं को स्वीकार करे, जो उसके लिए आवश्यक हैं और जो उसके भाग के रूप में नियत कर दी गई हैं। मनुष्य को यह भलीभाँति जानते हुए कि अन्य वस्तुएँ किसकी हैं, उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य

वैदिक ज्ञान अमोघ है, क्योंकि यह साक्षात् भगवान् से प्रारम्भ होने वाली गुरु-शिष्य की पूर्ण परम्परा से होकर आगे चलता आता है। चूँकि वैदिक ज्ञान का पहला शब्द भगवान् द्वारा उच्चारित हुआ

था, अतः इस ज्ञान का स्रोत दिव्य है। भगवान् द्वारा उच्चारित शब्द *अपौरुषेय* कहलाते हैं, जो इस बात का संकेत है कि ये शब्द किसी भौतिक पुरुष द्वारा नहीं कहे गये हैं। भौतिक संसार में रहने वाले जीव में चार दोष होते हैं—(१) वह निश्चित रूप से त्रुटि करता है; (२) वह मोहग्रस्त होने का पात्र होता है; (३) उसमें दूसरों को धोखा देने की प्रवृत्ति पाई जाती है; तथा (४) उसकी इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं। इन चार अपूर्णताओं से युक्त कोई भी मनुष्य पूर्ण ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता। वेद ऐसे अपूर्ण प्राणी द्वारा तैयार नहीं किये गये हैं। वैदिक ज्ञान सर्वप्रथम भगवान् द्वारा प्रथम सृजित जीव ब्रह्मा के हृदय में प्रदान किया गया और ब्रह्मा ने इस ज्ञान को आगे अपने पुत्रों तथा शिष्यों में प्रसारित किया, जो इस ज्ञान को अनादि काल से हस्तान्तरित करते चले आ रहे हैं।

चूँकि भगवान् *पूर्णम्*—सब प्रकार से पूर्ण हैं, अतएव उन पर भौतिक प्रकृति के नियम लागू होने की कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि नियम उनके नियंत्रण में रहते हैं। लेकिन जीव तथा जड़ पदार्थ दोनों प्रकृति के नियमों द्वारा और अन्ततः भगवान् की शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। यह *ईशोपनिषद्* यजुर्वेद का अंश है; फलस्वरूप इसमें इस ब्रह्माण्ड में स्थित समस्त वस्तुओं के स्वामित्व के विषय में जानकारी मिलती है।

इस ब्रह्माण्ड के भीतर की प्रत्येक वस्तु पर भगवान् के स्वामित्व की पुष्टि *भगवद्गीता* के सातवें अध्याय में की गई है, जिसमें परा तथा अपरा प्रकृति की विवेचना की गई है (७.४-५)। प्रकृति के सब तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—भगवान् की अपरा अर्थात् भौतिक शक्ति

(अपरा प्रकृति) से सम्बन्धित हैं, जबकि जीव अर्थात् चेतन शक्ति भगवान् की उच्चतर शक्ति (परा प्रकृति) है। ये दोनों ही प्रकृतियाँ या शक्तियाँ भगवान् से उद्भूत हैं और अन्ततोगत्वा, जो कुछ भी विद्यमान है उस सबके नियन्ता भगवान् ही हैं। ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो परा या अपरा प्रकृति के अन्तर्गत न हो; इसलिए प्रत्येक वस्तु उन परम पुरुष की सम्पत्ति है।

परम पुरुष अर्थात् भगवान् एक पूर्ण पुरुष हैं; उनके पास अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा हर वस्तु को समंजित करने की पूर्ण बुद्धि है। परम पुरुष की तुलना बहुधा अग्नि से की जाती है और प्रत्येक जड़ तथा चेतन वस्तु की तुलना अग्नि के ताप तथा प्रकाश से की जाती है। अग्नि जिस प्रकार ताप तथा प्रकाश के रूप में अपनी शक्ति का वितरण करती है, उसी प्रकार भगवान् भी विभिन्न प्रकारों से अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार वे परम नियन्ता, सभी के पालक तथा आदेशक हैं। वे सभी शक्तियों के स्वामी, प्रत्येक वस्तु के परम ज्ञाता तथा हर एक को लाभ देने वाले हैं। वे अचिन्त्य ऐश्वर्य, बल, यश, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य से परिपूर्ण हैं।

अतएव मनुष्य को इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि वह यह जान ले कि भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई किसी वस्तु का स्वामी नहीं है। मनुष्य को केवल वे ही वस्तुएँ स्वीकार करनी चाहिए, जो भगवान् ने उसके लिए नियत कर दी हैं। उदाहरणार्थ, गाय दूध देती है, किन्तु वह उस दूध को पीती नहीं; वह घास तथा भूसा खाती है और उसका दूध मनुष्यों का भोजन कहलाता है। ऐसी है व्यवस्था भगवान् की। अतः हमें उन्हीं वस्तुओं से संतुष्ट रहना चाहिए, जिन्हें उन्होंने हमारे लिए नियत कर दिया है और

हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए कि हमारे पास जो वस्तुएँ हैं, वे वास्तव में किसकी हैं।

उदाहरणार्थ, हमारा घर मिट्टी, लकड़ी, पत्थर, लोहा, सीमेंट तथा अन्य अनेक भौतिक वस्तुओं से बना होता है। यदि हम *श्रीईशोपनिषद्* के अनुसार विचार करें, तो हमें यह जान लेना चाहिए कि हम इन निर्माणार्थ पदार्थों में से किसी एक को भी उत्पन्न नहीं कर सकते। हम उन्हें केवल इकट्ठा कर सकते हैं और अपने श्रम से उन्हें विभिन्न रूपाकार दे सकते हैं। कोई श्रमिक अपने को किसी वस्तु का स्वामी केवल इसलिए नहीं कह सकता, क्योंकि उसने उसे तैयार करने में कठिन श्रम किया है।

आधुनिक समाज में श्रमिकों तथा पूँजीपतियों में सदैव एक बड़ा झगड़ा चलता रहता है। इस झगड़े ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है और विश्व संकट में है। मनुष्य एक दूसरे से शत्रुता बरतते हैं और कुत्ते-बिल्लियों की तरह गुर्राते हैं। *श्रीईशोपनिषद्* कुत्ते-बिल्लियों को उपदेश नहीं दे सकती, लेकिन यह मनुष्य को प्रामाणिक आचार्यों के माध्यम से ईश्वर का सन्देश प्रदान कर सकती है। मानव जाति को चाहिए कि *श्रीईशोपनिषद्* के इस वैदिक ज्ञान को ग्रहण करे और भौतिक स्वामित्व के लिए न झगड़ा न करे। मनुष्य को भगवान् की कृपा से जो भी सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं, उन्हीं से सन्तुष्ट रहना चाहिए। यदि साम्यवादी या पूँजीपति या कोई अन्य दल प्राकृतिक संसाधनों पर स्वामित्व जताता है, तो शान्ति स्थापित नहीं हो सकती, क्योंकि ये सब पूर्णतः भगवान् की सम्पत्ति हैं। न तो पूँजीपति साम्यवादियों को केवल राजनैतिक चालों से दबा सकते हैं न ही साम्यवादी पूँजीपतियों को केवल चुराई हुई रोटी के

लिए लड़कर उन्हें हरा सकते हैं। यदि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के स्वामित्व को स्वीकार नहीं करते, तो वह सारी सम्पत्ति जिसे वे अपनी होने का दावा करते हैं, चुराई हुई है। फलस्वरूप उन्हें प्रकृति के नियमों के द्वारा दण्डित होना पड़ेगा। नाभिकीय बम साम्यवादियों तथा पूँजीपतियों दोनों के ही पास हैं। और यदि ये दोनों परमेश्वर के स्वामित्व को नहीं मानते, तो यह निश्चित है कि ये बम अन्ततोगत्वा दोनों पक्षों का विनाश कर देंगे। अतएव अपने आपको बचाने तथा विश्व में शान्ति लाने के लिए दोनों पक्षों को *श्रीईशोपनिषद्* के उपदेशों का अनुसरण करना चाहिए।

मनुष्य कुत्ते-बिल्लियों की तरह लड़ने-झगड़ने के निमित्त नहीं बने हैं। उन्हें इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि वे मानव जीवन की महत्ता एवं उद्देश्य को समझ सके। वैदिक साहित्य मानव समाज के लिए है, न कि कुत्ते-बिल्लियों के लिए। कुत्ते-बिल्लियाँ अपने भोजन के लिए किसी पाप के भागी बने बिना अन्य पशुओं का वध कर सकते हैं, किन्तु यदि कोई मनुष्य अपने अनियंत्रित स्वाद ग्रंथियों की तुष्टि के लिए किसी पशु का वध करता है, तो वह प्रकृति के नियमों को तोड़ने के लिए उत्तरदायी होता है। फलस्वरूप उसे दण्डित होना पड़ेगा।

मनुष्यों के जीवन मानक पशुओं पर लागू नहीं किया जा सकता। बाघ न तो चावल या गेहूँ खाता है, न गाय का दूध पीता है, क्योंकि उसके लिए पशुमांस के रूप में भोजन नियत किया गया है। अनेक पशुओं तथा पक्षियों में से कुछ तो शाकाहारी हैं और अन्य मांसाहारी, लेकिन इनमें से कोई एक भी प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं करता, जो कि भगवान् की इच्छानुसार बने हैं।

पशु, पक्षी, सरीसृप तथा अन्य निम्न योनि वाले जीव प्रकृति के नियमों का कड़ाई से पालन करते हैं; अतएव न तो उनके लिए पाप का प्रश्न उठता है, न ही वैदिक उपदेश उनके लिए बने हैं। एकमात्र मानव जीवन ही उत्तरदायित्व का जीवन है।

यह मानना गलत है कि केवल शाकाहारी बनकर कोई प्रकृति के नियमों के उल्लंघन से अपने आपको बचा सकता है। शाक (वनस्पति) में भी जीवन होता है और यह प्रकृति का नियम है कि एक जीव दूसरे के खाने के लिए है, किन्तु बात तो मनुष्य द्वारा परमेश्वर को मान्यता प्रदान करने की है। अतएव मनुष्य को कट्टर शाकाहारी होने का गर्व नहीं करना चाहिए। पशुओं के पास इतनी विकसित बुद्धि नहीं होती, जिससे वे भगवान् को पहचान सकें, किन्तु मनुष्य इतना बुद्धिमान तो होता ही है कि वह वैदिक ग्रंथों से शिक्षा ग्रहण कर सके और उनसे यह जान सके कि प्रकृति के नियम किस तरह कार्य करते हैं और इस तरह ऐसे ज्ञान से लाभ उठा सके। यदि मनुष्य वैदिक ग्रंथों के उपदेशों की उपेक्षा करता है, तो उसका जीवन अत्यन्त संकटपूर्ण हो जाता है। अतएव मनुष्य को परमेश्वर की सत्ता को पहचानने और उनका भक्त बनने की आवश्यकता है। उसे हर वस्तु भगवान् की सेवा में अर्पित कर देनी चाहिए और उनको अर्पित किए गए भोजन का बचा हुआ भाग (प्रसाद) ही ग्रहण करना चाहिए। इससे वह अपने कर्तव्य का भलीभाँति पालन कर सकेगा। *भगवद्गीता* (९.२६) में भगवान् प्रत्यक्ष रूप से कहते हैं कि वे शुद्ध भक्त के हाथों से शाकाहारी भोजन ग्रहण करते हैं। अतएव मनुष्य को न केवल कट्टर शाकाहारी बनना चाहिए, अपितु उसे भगवद्भक्त भी होना चाहिए और सारा

भोजन भगवान् को अर्पित करना चाहिए। तत्पश्चात् केवल प्रसाद अथवा भगवान् की कृपा ग्रहण करनी चाहिए। केवल वही लोग जो इस तरह से कार्य करते हैं, मनुष्य जीवन के कर्तव्य का भलीभाँति पालन कर सकते हैं। जो लोग भगवान् को अपना भोजन अर्पित नहीं करते, वे वस्तुतः पाप खाते हैं और विभिन्न प्रकार के दुख भोगते हैं, जो पाप के फल होते हैं। (*भगवद्गीता* ३.१३)

भगवान् के स्वामित्व की अवमानना करके प्रकृति के नियमों का जानबूझ कर उल्लंघन करना ही पाप की जड़ है। प्रकृति के नियमों या भगवान् के आदेशों का उल्लंघन करने से मानव का विनाश होता है। इसके विपरीत जो मनुष्य सौम्य है, प्रकृति के नियमों को जानता है और व्यर्थ के राग या द्वेष से प्रभावित नहीं होता, उसे अवश्य ही भगवान् अपनाते हैं और वह इस तरह भगवद्धाम अर्थात् शाश्वत धाम वापस जाने का अधिकारी हो जाता है। •

मंत्र दो

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥

कुर्वन्—निरन्तर करते हुए; **एव**—इस प्रकार; **इह**—इस जीवन काल में; **कर्माणि**—कर्म; **जिजीविषेत्**—जीने की इच्छा करे; **शतम्**—एक सौ; **समाः**—वर्ष; **एवम्**—इस तरह रहते हुए; **त्वयि**—तुमको; **न**—नहीं; **अन्यथा**—दूसरा, वैकल्पिक; **इतः**—इस पथ से; **अस्ति**—है; **न**—नहीं; **कर्म**—कर्म; **लिप्यते**—बाँधता है; **नरे**—मनुष्य को।

अनुवाद

यदि मनुष्य इस प्रकार निरन्तर कार्य करता रहे, तो वह सैकड़ों वर्षों तक जीने की आकांक्षा कर सकता है, क्योंकि इस प्रकार का कार्य उसे कर्म के नियम से नहीं बाँधेगा। मनुष्य के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

तात्पर्य

कोई भी मरना नहीं चाहता। प्रत्येक व्यक्ति जब तक खींच सकता है, तब तक जीना चाहता है। यह प्रवृत्ति केवल व्यष्टिक रूप से ही नहीं, अपितु सामूहिक रूप से जाति, समाज और राष्ट्र में भी देखी जाती है। समस्त जीवों में विकट जीवन-संघर्ष चल रहा है और वेदों का कहना है कि यह बिल्कुल स्वाभाविक है। जीवात्मा स्वभावतः शाश्वत है, लेकिन भौतिक जगत में अपने बन्धन के

कारण उसे बारम्बार अपना शरीर बदलना पड़ता है। यह प्रक्रिया आत्मा का देहान्तरण अथवा कर्मबन्धन कहलाती है। जीव को अपनी आजीविका के लिए कार्य करना पड़ता है, क्योंकि यह भौतिक प्रकृति का नियम है और यदि वह अपने नियत कर्तव्यों के अनुसार कार्य नहीं करता, तो वह प्रकृति के नियम का उल्लंघन करता है और अपने आपको अनेक योनियों में जन्म-मृत्यु के चक्र में अधिकाधिक बाँधता जाता है।

अन्य योनियों में भी जन्म-मृत्यु का चक्र चलता है, लेकिन जब जीव को मनुष्य-योनि प्राप्त होती है, तो वह कर्म के बन्धन से मुक्त होने का अवसर प्राप्त करता है। *भगवद्गीता* में *कर्म, अकर्म* तथा *विकर्म* का अत्यन्त स्पष्ट वर्णन हुआ है। जो कार्य किसी के नियत कर्तव्यों के अनुसार शास्त्रों में उल्लिखित विधि से सम्पन्न किए जाते हैं, वे *कर्म* कहलाते हैं। जो कर्म मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त करते हैं, वे *अकर्म* कहलाते हैं। किन्तु जो कार्य अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके सम्पन्न किये जाते हैं और जिससे अधम योनियों में जाना पड़ता है, वे *विकर्म* कहलाते हैं। इन तीन प्रकार के कर्मों में से बुद्धिमान मनुष्य उसे ही अच्छा समझता है, जो उसे कर्म के बन्धन से मुक्त कर दे। सामान्य लोग प्रसिद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से तथा इस संसार में या स्वर्ग में उच्चतर जीवन स्तर प्राप्त करने के उद्देश्य से अच्छा कार्य करते हैं, लेकिन अधिक उन्नत लोग कर्म तथा कर्म के फल से सर्वथा मुक्त होना चाहते हैं। बुद्धिमान पुरुष यह भलीभाँति जानते हैं कि अच्छे या बुरे कार्य समान रूप से मनुष्य को भौतिक कष्टों से बाँधने वाले हैं। अतएव वे ऐसा कार्य खोजते हैं, जो उन्हें अच्छे या बुरे दोनों ही प्रकार के

कार्य के फलों से मुक्त कर दे। *श्रीईशोपनिषद्* के पृष्ठों में इसी मुक्ति प्रदान करने वाले कार्य का वर्णन किया गया है।

श्रीईशोपनिषद् के उपदेशों की *भगवद्गीता* में विशद् व्याख्या की गई है, अतएव *भगवद्गीता* को कभी-कभी *गीतोपनिषद्* या सभी उपनिषदों का नवनीत कहा जाता है। *भगवद्गीता* (३.९-१६) में भगवान् कहते हैं कि मनुष्य को तब तक *नैष्कर्म्य* या *अकर्म* अवस्था प्राप्त नहीं होती, जब तक वह वैदिक साहित्य में वर्णित नियत कर्तव्यों (स्वधर्म) का आचरण नहीं करता। वेद मनुष्य की कार्यशक्ति को इस प्रकार नियमित कर सकते हैं कि वह धीरे धीरे भगवान् की सत्ता का अनुभव करने लगता है। जब वह परमेश्वर—वासुदेव अथवा कृष्ण—की सत्ता का अनुभव कर लेता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने सकारात्मक ज्ञान की अवस्था प्राप्त कर ली है। इस शुद्ध अवस्था में प्रकृति के गुण—सतो, रजो तथा तमो गुण—कार्य नहीं कर पाते और उसमें नैष्कर्म्य के आधार पर कर्म करने की क्षमता आ जाती है। ऐसा कर्म मनुष्य को जन्म तथा मृत्यु के चक्र से नहीं बाँधता।

वास्तव में किसी को भी भगवान् की भक्ति से अधिक कुछ नहीं करना होता। परन्तु जीवन के निम्न स्तर पर मनुष्य भक्ति के कार्यकलाप तुरन्त नहीं अपना सकता, न ही वह सकाम कर्म को पूरी तरह रोक सकता है। बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति के लिए—अपने स्वार्थ के लिए, चाहे वह तात्कालिक हो या व्यापक—कर्म करने का आदी होता है। सामान्य व्यक्ति अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है और जब इन्द्रियतृप्ति का यह सिद्धान्त समाज, राष्ट्र या मानवता तक विस्तारित हो जाता है, तो यह अनेक आकर्षक

नाम धारण कर लेता है, यथा परोपकार, समाजवाद, साम्यवाद, राष्ट्रवाद तथा मानवतावाद इत्यादि। ये 'वाद' निश्चय ही कर्म-बन्धन के अत्यन्त आकर्षक रूप हैं, लेकिन *ईशोपनिषद्* की वैदिक शिक्षा यह है कि यदि कोई सचमुच इनमें से किसी 'वाद' के लिए जीना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह उन्हें ईश-केन्द्रित कर दे। गृहस्थ बनने या परोपकारी, समाजवादी, साम्यवादी, राष्ट्रवादी या मानवतावादी बनने में कोई हानि नहीं है, बशर्ते कि वह अपने कार्यों को *ईशावास्य* या भगवत्-केन्द्रित भावना से सम्पन्न करे।

भगवद्गीता (२.४०) में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि भगवत्-केन्द्रित कार्य इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनमें से कुछेक भी मनुष्य को बड़े से बड़े भय से बचा सकते हैं। जीवन का सबसे बड़ा भय यही है कि वह ८४,००,००० योनियों में जन्म-मृत्यु के विकास-चक्र के गर्त में पुनः न गिर जाए। यदि किसी भी तरह मनुष्य अपने इस मनुष्य जन्म द्वारा प्रदत्त आध्यात्मिक अवसर को खो देता है और पुनः विकास-चक्र में गिर जाता है, तो इसे उसका महान् दुर्भाग्य समझना चाहिए। मूर्ख मनुष्य अपनी दोषपूर्ण इन्द्रियों से यह नहीं देख पाता कि ऐसा हो रहा है। फलस्वरूप *श्रीईशोपनिषद्* हमें सलाह देती है कि हम अपनी शक्ति ईशावास्य रूपी भावना में लगाएँ। इस भावना में लगकर हम अनेकानेक वर्षों तक जीवित रहने की आकांक्षा कर सकते हैं; अन्यथा दीर्घकालीन जीवन का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है। एक वृक्ष कई सौ वर्षों तक जीवित रहता है, लेकिन वृक्ष की तरह दीर्घकाल तक जीवित रहकर धौंकनी की तरह साँस लेते रहने या कुत्तों और सूअरों की तरह सन्तान उत्पन्न करने या ऊँट की तरह खाते रहने में कोई लाभ नहीं

है। विनीत भगवद्-केन्द्रित जीवन ईश्वर-रहित परोपकार या समाजवाद से युक्त विराट् पाखण्ड से कहीं अच्छा है।

जब *श्रीईशोपनिषद्* की भावना से परोपकारी कार्य किए जाते हैं, तो वे एक प्रकार के कर्मयोग बन जाते हैं। ऐसे कर्मों की संस्तुति *भगवद्गीता* (१८.५-९) में की गई है, क्योंकि उनसे उनके कर्ता को जन्म-मृत्यु के विकास चक्र में गिरने के भय से सुरक्षा की गारंटी प्राप्त होती है। इस प्रकार के भगवद्-केन्द्रित कार्यकलाप अधूरे रहने पर भी कर्ता के लिए शुभ होते हैं, क्योंकि इससे अगले जन्म में उसे मनुष्य-योनि का मिलना सुनिश्चित हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य को मुक्ति-मार्ग पर अपनी स्थिति सुधारने का एक और अवसर प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य ईश-केन्द्रित कार्य किस प्रकार कर सकता है, इसका विवरण श्रील रूप गोस्वामी कृत *भक्तिरसामृत सिन्धु* में विस्तृत रूप से दिया गया है। यह ग्रन्थ हमने अंग्रेजी भाषा म *नेक्टर ऑफ डिवोशन* शीर्षक से प्रकाशित किया है। श्री *ईशोपनिषद्* की भावना के अनुसार कार्य करने के इच्छुक सबों को हम इस अमूल्य ग्रन्थ का लाभ उठाने का परामर्श देते हैं। •

मंत्र तीन

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ ३॥

असुर्याः—असुरों के निमित्त; **नाम**—नाम से प्रसिद्ध; **ते**—वे; **लोकाः**—ग्रह; **अन्धेन**—अज्ञान से; **तमसा**—अंधकार से; **आवृताः**—ढके हुए; **तान्**—उन लोकों को; **ते**—वे; **प्रेत्य**—मृत्यु के बाद; **अभिगच्छन्ति**—प्रवेश करते हैं; **ये**—जो कोई; **के**—हरएक; **च**—तथा; **आत्महनः**—आत्मा का हनन करने वाले; **जनाः**—व्यक्ति।

अनुवाद

आत्मा का हनन करने वाला, चाहे वह कोई भी हो, उन लोकों में अवश्य प्रवेश करता है, जो अश्रद्धालुओं के जगत के नाम से विख्यात हैं और अंधकार तथा अज्ञान से भरे हैं।

तात्पर्य

मनुष्य-जीवन अपने भारी उत्तरदायित्वों के कारण पशु-जीवन से भिन्न होता है। जो लोग इन दायित्वों से अवगत हैं और उसी भाव से कार्य करते हैं, वे *सुर* (दैवी व्यक्ति) कहलाते हैं और जो इन दायित्वों की अवहेलना करते हैं या जिन्हें इनकी जानकारी नहीं रहती, वे *असुर* कहलाते हैं। सारे ब्रह्माण्ड में यही दो प्रकार के मनुष्य पाए जाते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि सुर लोग सदैव भगवान् विष्णु के चरणकमलों को लक्ष्य बनाते हैं और तदनुसार

कर्म करते हैं। उनका मार्ग सूर्य के पथ के ही समान देदीप्यमान रहता है।

बुद्धिमान मनुष्यों को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा को मानव शरीर देहान्तरण के चक्र में लाखों वर्षों के विकास के पश्चात् प्राप्त होता है। कभी-कभी इस भौतिक जगत की तुलना एक समुद्र से की जाती है और इस मानव शरीर की तुलना एक सुदृढ़ नाव से की जाती है, जो इस समुद्र को पार करने के लिए विशेष रूप से निर्मित की गई है। वैदिक शास्त्रों तथा आचार्यों की तुलना पटु नाविकों से की जाती है और मानव शरीर की सुविधाओं की तुलना अनुकूल मन्द समीर से की जाती है, जो नाव को सरलता से इच्छित लक्ष्य तक ले जाने में सहायक होती है। यदि इन समस्त सुविधाओं के होते हुए भी कोई मनुष्य अपने जीवन का पूर्ण उपयोग आत्म-साक्षात्कार के लिए नहीं कर पाता, तो उसे *आत्महा* अर्थात् आत्मा का हनन करने वाला समझना चाहिए। *श्रीईशोपनिषद्* स्पष्ट रूप से चेतावनी देती है कि आत्मा के हत्यारे के लिए सदा दुख भोगने के लिए अज्ञान के गहनतम अंधकार में प्रवेश करना निश्चित है।

यद्यपि शूकर, कूकर, ऊँट, गधे इत्यादि की आर्थिक आवश्यकताएँ उनको उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी हमको हमारी आवश्यकताएँ हैं, लेकिन इन पशुओं की आर्थिक समस्याएँ अत्यन्त निकृष्ट तथा अरुचिकर परिस्थितियों में हल की जाती हैं। मनुष्य को प्रकृति के नियमों द्वारा आरामदायक जीवनयापन के लिए सारी सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, क्योंकि मानव जीवन पशु-जीवन की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान है। तो मनुष्य को शूकर तथा अन्य पशुओं की अपेक्षा श्रेष्ठतर जीवन क्यों दिया गया है?

एक उच्च पद वाले सरकारी कर्मिक को एक सामान्य क्लर्क की अपेक्षा बेहतर सुविधाएँ क्यों दी जातीं हैं? इसका उत्तर यह है कि उच्च पदाधिकारी को उच्च कोटि के कर्तव्य निबाहने होते हैं। इसी प्रकार मनुष्य को पशुओं की अपेक्षा उच्चतर कर्तव्यों का पालन करना होता है, जबकि पशु सदैव अपना भूखा पेट भरने मात्र में लगे रहते हैं। फिर भी आधुनिक आत्माघातिनी सभ्यता से भूखे लोगों की समस्याओं में केवल वृद्धि ही हुई है। जब हम किसी आधुनिक सभ्य मनुष्य रूपी सजे-धजे पशु के पास पहुँचते हैं और उससे आत्म-साक्षात्कार में रुचि लेने के लिए कहते हैं, तो वह इतना ही कहना चाहेगा कि वह केवल अपने उदर की क्षुधा-शान्ति के लिए काम करना चाहता है और एक भूखे मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु प्रकृति के नियम इतने क्रूर हैं कि पेट-पालन के लिए कठोर श्रम करने के लिए उत्सुक रहने पर और आत्म-साक्षात्कार की आवश्यकता की भर्त्सना करने पर भी उसे बेरोजगारी का प्रश्न सदैव भयभीत किये रहता है।

हमें यह मनुष्य-शरीर गधों, शूकरों तथा कुत्तों के समान कठोर श्रम करने के लिए नहीं मिला है, अपितु जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के निमित्त मिला है। यदि हम आत्म-साक्षात्कार की परवाह नहीं करते, तो प्रकृति के नियम हमें अत्यन्त कठोर श्रम करने के लिए बाध्य करते हैं, भले ही हम ऐसा न करना चाहें। इस युग में मनुष्य को गधों और गाड़ी खींचने वाले बैलों की तरह कठोर श्रम करने के लिए बाध्य किया गया है। जिन भू-भागों में इन असुरों को काम करने के लिए भेज दिया जाता है, उनमें से

मंत्र चार

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

अनेजत्—स्थिर; **एकम्**—एक; **मनसः**—मन की अपेक्षा; **जवीयः**—अधिक तेज; **न**—नहीं; **एनत्**—यह परमेश्वर; **देवाः**—इन्द्र जैसे देवता; **आप्नुवन्**—पहुँच सकते हैं; **पूर्वम्**—समक्ष; **अर्षत्**—तेजी से चलते हुए; **तत्**—वे; **धावतः**—दौड़ने वालों को; **अन्यान्**—दूसरे; **अत्येति**—अतिक्रमण कर जाता है; **तिष्ठत्**—एक स्थान पर रहते हुए; **तस्मिन्**—उनमें; **अपः**—वर्षा; **मातरिश्वा**—वायु तथा जल के देवता; **दधाति**—पूर्ति करते हैं।

अनुवाद

अपने धाम में स्थिर रहते हुए भी भगवान् मन से अधिक वेगवान हैं और अन्य समस्त दौड़ने वालों को पीछे रख सकते हैं। शक्तिशाली देवता उन तक नहीं पहुँच पाते। एक स्थान पर रहते हुए भी वे वायु तथा वर्षा की पूर्ति करने वाले देवताओं को वश में रखते हैं। वे श्रेष्ठता में सबसे आगे हैं।

तात्पर्य

बड़े से बड़ा दार्शनिक भी मानसिक चिन्तन द्वारा परमेश्वर अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं जान सकता। वे तो केवल अपने भक्तों द्वारा ही उनकी कृपा से ही जाने जा सकते हैं। *ब्रह्म-*

संहिता (५.३४) में कहा गया है कि यदि कोई अभक्त दार्शनिक वायु या मन के वेग से भी लाखों वर्षों तक अंतरिक्ष में यात्रा करता रहे, तो भी वह परम सत्य को अपने से अति दूर पाएगा। *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) में आगे वर्णन है कि परम भगवान् का अपना दिव्य धाम है, जिसे गोलोक कहते हैं, जहाँ वे अपनी लीलाओं में मग्न रहते हैं। फिर भी अपनी अचिन्त्य शक्तियों द्वारा वे एक ही समय अपनी सृजनात्मक शक्ति के प्रत्येक भाग में पहुँच सकते हैं। विष्णु पुराण में उनकी शक्तियों की तुलना अग्नि से उद्भूत ताप तथा प्रकाश से की गई है। यद्यपि अग्नि एक स्थान पर बनी रहती है, तथापि वह अपने प्रकाश तथा ताप को कुछ दूरी तक वितरित कर सकती है। इसी प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने दिव्य धाम में स्थिर रहते हुए भी अपनी विभिन्न शक्तियों को सर्वत्र बिखेर सकते हैं।

यद्यपि उनकी शक्तियाँ असंख्य हैं, तथापि उन्हें तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—अन्तरंगा शक्ति, तटस्था शक्ति तथा बहिरंगा शक्ति। इन श्रेणियों में से प्रत्येक के हजारों-लाखों उपभेद हैं। वायु, प्रकाश, वर्षा इत्यादि प्राकृतिक संसाधनों को नियंत्रित करने वाले शक्तिसम्पन्न प्रमुख देवता, परम पुरुष की तटस्था शक्ति के अन्तर्गत आते हैं। मनुष्यों समेत सारे निम्न जीव भी भगवान् की तटस्था शक्ति के अन्तर्गत आते हैं। यह भौतिक जगत भगवान् की बहिरंगा शक्ति की सृष्टि है और आध्यात्मिक आकाश या ईश्वर का धाम उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है।

इस प्रकार भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ सर्वत्र विद्यमान हैं। यद्यपि भगवान् तथा उनकी शक्तियों में कोई अन्तर नहीं है, लेकिन

किसी को भी गलती से यह नहीं मान लेना चाहिए कि ये शक्तियाँ ही परम सत्य हैं और परमेश्वर केवल निराकार रूप से सर्वत्र व्याप्त हैं या कि उनका साकार रूप नहीं होता। लोग अपनी समझ की क्षमता के अनुसार विभिन्न निष्कर्षों तक पहुँचने के आदी हैं, किन्तु परमेश्वर हमारी समझ की सीमित क्षमता के अन्तर्गत नहीं होते। इसीलिए *उपनिषद्* हमें चेतावनी देते हैं कि कोई भी अपनी सीमित शक्ति से भगवान् तक नहीं पहुँच सकता।

भगवद्गीता (१०.२) में भगवान् कहते हैं कि उन्हें बड़े-बड़े ऋषि तथा सुरगण भी नहीं जान पाते। तो फिर उन असुरों के विषय में क्या कहा जाए, जिनके लिए भगवान् की गतिविधियों को समझने का प्रश्न ही नहीं उठता। *श्रीईशोपनिषद्* का यह चौथा मंत्र स्पष्ट कर देता है कि परम सत्य अन्ततः परम पुरुष हैं, अन्यथा उनके साकार रूप के समर्थन में इतनी विविधता का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता न होती।

यद्यपि भगवान् की शक्तियों के प्रत्येक अंश में साक्षात् भगवान् के सारे लक्षण रहते हैं, लेकिन उनका कार्यक्षेत्र सीमित रहता है; अतएव वे सभी तरह से सीमित होते हैं। अंश कभी भी पूर्ण के समकक्ष नहीं होता, अतएव ये अंश भगवान् की पूरी शक्ति को समझ नहीं सकते। भौतिक प्रकृति के वशीभूत होकर, मूर्ख तथा अज्ञानी जीव, जो भगवान् के अंश स्वरूप हैं, भगवान् की दिव्य स्थिति के विषय में अटकलें लगाते हैं। *श्रीईशोपनिषद्* मानसिक चिन्तन द्वारा भगवान् की पहचान स्थापित करने के प्रयासों की व्यर्थता के प्रति चेतावनी देता है। मनुष्य को वेदों जैसे सर्वोत्कृष्ट स्रोत से भगवान् के अध्यात्म तत्त्व को सीखने का प्रयत्न करना

चाहिए, क्योंकि दिव्यता का पूर्ण ज्ञान केवल भगवान् को ही है।

परम पूर्ण का प्रत्येक अंश किसी विशेष शक्ति से सम्पन्न होता है, जिससे वह परमेश्वर की इच्छानुसार कर्म करता है। जब वह जीव-रूपी अंश-विशेष भगवान् की इच्छा द्वारा निर्दिष्ट अपने विशिष्ट कार्यकलापों को भूल जाता है, तो वह माया में स्थित समझा जाता है। इसलिए *श्रीईशोपनिषद्* हमें प्रारम्भ से ही सचेत करता है कि भगवान् द्वारा हमारे लिए जो कार्य नियत है, हम उसे ही करें। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि व्यष्टि जीवात्मा में अपनी प्रेरणा नहीं होती। चूँकि जीव भगवान् का अंश है, उसमें भगवान् की प्रेरणात्मक शक्ति भी होनी चाहिए। जब कोई अपनी प्रेरणा या सक्रिय प्रकृति का उपयोग बुद्धि के द्वारा भलीभाँति यह समझते हुए करता है कि हर कार्य में भगवान् की शक्ति है, तो वह अपनी मूल चेतना पुनः प्राप्त कर सकता है, जो माया या बहिरंगा शक्ति के सान्निध्य के कारण लुप्त हो गई थी।

चूँकि सारी शक्ति भगवान् से प्राप्त होती है, अतएव प्रत्येक शक्ति का उपयोग भगवान् की इच्छा पूरी करने में ही करना चाहिए, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। भगवान् ऐसी विनीत सेवा की मनोवृत्ति वाले व्यक्ति द्वारा जाने जा सकते हैं। पूर्ण ज्ञान का अर्थ है, भगवान् के सभी लक्षणों को जानना, उनकी शक्तियों को जानना और यह जानना कि ये शक्तियाँ उनकी इच्छा से किस प्रकार कार्य करती हैं। ये बातें भगवान् के द्वारा *भगवद्गीता* में वर्णित हैं, जो समस्त उपनिषदों का सार है। •

मंत्र पाँच

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

तत्—ये परमेश्वर; **एजति**—चलते हैं; तत्—वे; **एजति**—चलते हैं; **तत्**—वे; **दूरे**—काफी दूर; **तत्**—वे; **उ**—भी; **अन्तिके**—अत्यन्त निकट; **तत्**—वे; **अन्तः**—भीतर; **अस्य**—इसका; **सर्वस्य**—सबका; **तत्**—वे; **उ**—भी; **सर्वस्य**—सबका; **अस्य**—इसका; **बाह्यतः**—बाहरी।

अनुवाद

परमेश्वर चलते हैं और नहीं भी चलते। वे बहुत दूर हैं लेकिन अत्यन्त निकट भी हैं। वे सबके भीतर हैं, फिर भी वे सबके बाहर भी हैं।

तात्पर्य

यहाँ पर भगवान् के कुछ दिव्य कार्यकलापों का वर्णन किया गया है, जो उनकी अचिन्त्य शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। यहाँ पर दिए गए विरोधाभासी कथन भगवान् की अचिन्त्य शक्तियाँ सिद्ध करते हैं। "वे चलते हैं और नहीं भी चलते।" साधारणतया यदि कोई चल सकता है, तो यह कहना कि वह नहीं चल सकता, तर्क-विरुद्ध होगा। किन्तु भगवान् के संदर्भ में ऐसा विरोधी कथन मात्र उनकी अचिन्त्य शक्तियों को इंगित करने का कार्य करता है। अपने सीमित ज्ञान से हम ऐसे विरोधी कथनों को समझ नहीं सकते; अतः हम तो केवल अपने ज्ञान की सीमित शक्ति के आधार पर भगवान्

की धारणा बनाते हैं। उदाहरण के तौर पर मायावाद सिद्धान्त को मानने वाले निर्विषेशवादी दार्शनिक भगवान् के केवल निराकार कार्यकलापों को स्वीकार करते हैं और उनके साकार रूप को ठुकरा देते हैं। किन्तु भागवत सम्प्रदाय को मानने वाले भगवान् की पूर्ण धारणा को अपनाते हुए उनकी अचिन्त्य शक्तियों को स्वीकार करते हैं और समझते हैं कि वे साकार तथा निराकार दोनों हैं। भागवतगण जानते हैं कि अचिन्त्य शक्तियों के बिना "परमेश्वर" शब्द का कोई अर्थ नहीं रहता।

हमें यह नहीं मान बैठना चाहिए कि चूँकि हम ईश्वर को अपनी आँखों से नहीं देख सकते, अतएव भगवान् साकार नहीं हैं। *श्रीईशोपनिषद्* यह घोषणा करके इस तर्क का खण्डन करता है कि भगवान् बहुत दूर हैं, लेकिन अत्यन्त निकट भी हैं। भगवान् का धाम भौतिक आकाश से परे है और हमारे पास इस भौतिक आकाश को भी मापने के साधन उपलब्ध नहीं हैं। यदि भौतिक आकाश ही इतना दूर तक विस्तृत है, तो फिर आध्यात्मिक आकाश के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो इससे सर्वथा परे है? आध्यात्मिक आकाश (परव्योम) भौतिक ब्रह्माण्ड से अति दूर स्थित होने की पुष्टि *भगवद्गीता* (१५.६) में की गई है। लेकिन इतनी दूरी पर रहते हुए भी भगवान् एक पल से भी कम समय में मन या वायु से भी तेज गति से हमारे समक्ष तुरन्त अवतरित हो सकते हैं। वे इतनी तेजी से दौड़ भी सकते हैं कि कोई उनसे आगे नहीं निकल सकता। इसका वर्णन पिछले श्लोक में किया जा चुका है।

फिर भी जब भगवान् हमारे समक्ष आते हैं, तो हम उनकी अनदेखी करते हैं। ऐसी मूर्खतापूर्ण उपेक्षा की भर्त्सना भगवान् द्वारा

भगवद्गीता (९.११) में की गई है, जहाँ वे कहते हैं कि मूर्ख लोग मुझे मर्त्य प्राणी मानकर मेरा उपहास करते हैं। वे न तो मर्त्य प्राणी हैं, न ही वे हमारे समक्ष भौतिक प्रकृति द्वारा उत्पन्न शरीर लेकर आते हैं। ऐसे अनेक तथाकथित विद्वान हैं, जिनका तर्क है कि भगवान् सामान्य जीव की भाँति पदार्थ से बना भौतिक प्रकृति द्वारा निर्मित शरीर लेकर अवतरित होते हैं। उनकी अचिन्त्य शक्ति को न जानते हुए ऐसे मूर्ख लोग भगवान् को सामान्य व्यक्ति जैसा मान बैठते हैं।

अचिन्त्य शक्तियों से पूर्ण होने के कारण भगवान् किसी भी माध्यम से हमारी सेवा का स्वीकार कर सकते हैं और वे अपनी विभिन्न शक्तियों को अपनी इच्छानुसार रूपान्तरित कर सकते हैं। नास्तिकों का तर्क है कि भगवान् या तो अपने आप अवतरित हो ही नहीं सकते और यदि वे ऐसा करते हैं, तो भौतिक शक्ति से बने रूप में अवतरित होते हैं। यदि हम भगवान् की अचिन्त्य शक्तियों के अस्तित्व को स्वीकार करें, तो यह तर्क निरस्त हो जाता है। तब हम समझेंगे कि यदि भगवान् हमारे समक्ष भौतिक शक्ति से बने रूप में प्रकट होते भी हैं, तो भी उनके लिए यह सर्वथा सम्भव है कि वे इस भौतिक शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में रूपान्तरित कर लें। चूँकि शक्तियों का स्रोत एक ही है, अतएव शक्तियों को उनके स्रोत की इच्छानुसार काम में लाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, भगवान् अर्चाविग्रह में अर्थात् मिट्टी, पत्थर या लकड़ी के बने विग्रह के स्वरूप में प्रकट हो सकते हैं। लकड़ी, पत्थर या अन्य पदार्थ के बने ये अर्चाविग्रह मूर्तियाँ नहीं हैं, जैसाकि मूर्तिभंजक तर्क करते हैं।

भौतिक जगत की हमारी वर्तमान अपूर्ण बद्ध अवस्था में हम हमारी अपूर्ण दृष्टि के कारण परमेश्वर को नहीं देख पाते। किन्तु जो भक्त उन्हें भौतिक दृष्टि के द्वारा देखना चाहते हैं, उन पर अनुग्रह करके भगवान् अपने तथाकथित भौतिक रूप में प्रकट होकर अपने भक्तों की सेवा को स्वीकार करते हैं। हमें यह नहीं समझना चाहिए कि ऐसे भक्त, जो भक्ति की निम्नतम अवस्था में हैं, वे किसी मूर्ति की पूजा करते हैं। वस्तुतः वे भगवान् की ही पूजा करते हैं, जो उनके समक्ष ऐसे उपगम्य रूप में प्रकट होने के लिए सहमत हो गए हैं, जिस तक सबकी पहुँच हो सके। न ही अर्चा-स्वरूप को पूजक की सनक के अनुसार गढ़ा जाता है। यह स्वरूप अपने साज-सामान के साथ शाश्वत तौर पर विद्यमान रहने वाला है। इसकी वास्तविक अनुभूति निष्ठावान भक्त के द्वारा ही की जा सकती है, नास्तिक के द्वारा नहीं।

भगवद्गीता (४.११) में भगवान् इंगित करते हैं कि वे भक्त से किस प्रकार व्यवहार करते हैं, यह उसकी शरणागति की मात्रा पर निर्भर करता है। यह अधिकार वे अपने हाथों में रखते हैं कि वे शरणागतों के अतिरिक्त किसी और के समक्ष प्रकट हों या न हों। इस प्रकार शरणागत जीवों के लिए वे सदैव लभ्य हैं, परन्तु शरणागत नहीं हुए जीवों के लिए वे अति दूर तथा अगम्य हैं।

इस सन्दर्भ में शास्त्रों में भगवान् के लिये प्रायः प्रयुक्त होने वाले दो शब्द— *सगुण* (गुणों से युक्त) तथा *निर्गुण* (गुणों से रहित)— अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *सगुण* शब्द का मतलब यह नहीं होता कि जब वे दृष्टिगोचर गुणों सहित प्रकट होते हैं, तो वे भौतिक रूप ग्रहण करते हैं और भौतिक प्रकृति के नियमों के अधीन रहते हैं।

उनके लिए भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों में अन्तर नहीं होता, क्योंकि वे समस्त शक्तियों के स्रोत हैं। समस्त शक्तियों के नियंत्रक के रूप में वे हमारी तरह कभी भी उनके वश में नहीं हो सकते। भौतिक शक्ति उनके निर्देशों के अनुसार कार्य करती है, अतएव वे उस शक्ति को अपने कार्य के लिए उस शक्ति के किसी भी गुण से प्रभावित हुए बिना प्रयोग कर सकते हैं। (इस संदर्भ में, वे निर्गुण हैं)। न ही भगवान् कभी निराकार होते हैं, क्योंकि अन्ततोगत्वा वे शाश्वत रूप तथा आदि भगवान् हैं। उनका निराकार पहलू या ब्रह्मज्योति उनकी व्यक्तिगत किरणों की चमक मात्र है, जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य देव की चमक हैं।

जब बालक-सन्त प्रह्लाद महाराज अपने नास्तिक पिता के समक्ष थे, तो उनके पिता ने उनसे पूछा, "कहाँ है तुम्हारा ईश्वर?" जब प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि ईश्वर सर्वत्र निवास करते हैं, तो पिता ने क्रुद्ध होकर पूछा कि क्या तुम्हारा ईश्वर इस महल के किसी खम्भे में भी है? तो बालक ने कहा "हाँ।" उस नास्तिक राजा ने उस खम्भे को तुरन्त उन्हीं के सामने खण्ड-खण्ड कर दिया और भगवान् उसी समय नृसिंह के रूप में प्रकट हो गए और उन्होंने उस नास्तिक राजा का संहार कर दिया। इस प्रकार ईश्वर सभी वस्तुओं के भीतर हैं और वे अपनी विभिन्न शक्तियों से हर वस्तु की सृष्टि करते हैं। वे अपनी अचिन्त्य शक्तियों से अपने निष्ठावान भक्त पर कृपा दिखाने के लिए किसी भी स्थान पर प्रकट हो सकते हैं। भगवान् नृसिंह उस खम्भे के भीतर से नास्तिक राजा के आदेश से नहीं प्रकट हुए थे, अपितु अपने भक्त प्रह्लाद की इच्छा से प्रकट हुए थे। कोई नास्तिक भगवान् को प्रकट होने का आदेश नहीं दे

सकता, लेकिन भगवान् अपने भक्त पर कृपा दिखाने के लिए कहीं भी प्रकट हो जाएँगे। इसी प्रकार *भगवद्गीता* (४.८) का कथन है कि भगवान् नास्तिकों का नाश करने तथा आस्तिकों की रक्षा करने के लिए प्रकट होते हैं। निस्सन्देह, भगवान् के पास पर्याप्त शक्तियाँ तथा कार्यवाहक हैं, जो नास्तिकों का सफाया कर सकते हैं, लेकिन भक्तों पर स्वयं कृपा करने में उन्हें हर्ष होता है। अतएव वे अवतार के रूप में प्रकट होते हैं। वास्तव में वे अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ही अवतरित होते हैं, किसी अन्य प्रयोजन से नहीं।

ब्रह्म-संहिता (५.३५) में कहा गया है कि आदि भगवान् गोविन्द अपने पूर्ण अंश द्वारा प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करते हैं। वे ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के सारे परमाणुओं तक में प्रवेश करते हैं। वे विराट् रूप में प्रत्येक वस्तु से बाहर रहते हैं, किन्तु अपने अन्तर्यामी रूप में वे प्रत्येक वस्तु के भीतर रहते हैं। अन्तर्यामी रूप में वे घटित होने वाली प्रत्येक घटना के साक्षी हैं और हमें अपने कर्मों का फल प्रदान करते हैं। भले ही हम भूल जाएँ कि हमने पूर्वजन्मों में क्या क्या किया था, लेकिन चूँकि भगवान् हमारे कार्यों के साक्षी हैं, अतएव हमारे कर्मों के फल सदैव मिलते हैं और हमें उन फलों को भोगना होता है।

तथ्य तो यह है कि भीतर तथा बाहर ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु उनकी विभिन्न शक्तियों का प्राकट्य है, जिस तरह अग्नि से ताप तथा प्रकाश उद्भूत होते हैं। इस तरह उनकी विभिन्न शक्तियों में एकरूपता है। इस एकरूपता के होने पर भी भगवान् अपने व्यक्तिगत् रूप में उन सब वस्तुओं को पूर्ण-रूपेण भोगते हैं, जो उनके अंश रूप जीवों द्वारा सूक्ष्म मात्रा में भोग्य हैं। •

मंत्र छह

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

यः—जो; **तु**—लेकिन; **सर्वाणि**—समस्त; **भूतानि**—जीवों को; **आत्मनि**—परमेश्वर के सम्बन्ध में; **एव**—केवल; **अनुपश्यति**—नियमित ढंग से देखता है; **सर्वभूतेषु**—हरेक जीव में; **च**—तथा; **आत्मानम्**—परमात्मा को; **ततः**—तत्पश्चात्; **न**—नहीं; **विजुगुप्सते**—किसी से घृणा करता है।

अनुवाद

जो प्रत्येक वस्तु को परमेश्वर के सन्दर्भ में देखता है, जो समस्त जीवों को उनके अंश-रूप में देखता है तथा जो परमेश्वर को प्रत्येक वस्तु के भीतर देखता है, वह कभी भी किसी वस्तु या जीव से घृणा नहीं करता।

तात्पर्य

यह महाभागवत अर्थात् ऐसे महापुरुष का विवरण है, जो हर वस्तु को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के सन्दर्भ में देखता है। परमेश्वर की उपस्थिति की अनुभूति की तीन अवस्थाएँ हैं। *कनिष्ठ अधिकारी* अनुभूति की निम्नतम अवस्था में होता है। वह अपनी धार्मिक आस्था के अनुसार किसी पूजा स्थल यथा मन्दिर, गिरजाघर या मस्जिद में जाता है और वहाँ पर शास्त्रों के आदेशानुसार पूजा करता

है। ऐसी अवस्था के भक्त भगवान् को पूजास्थल पर ही उपस्थित मानते हैं, अन्यत्र कहीं नहीं। वे न तो यह निश्चित कर पाते हैं कि भक्ति में कौन किस स्थिति पर है, न ही वे यह बता सकते हैं कि किसे भगवान् का साक्षात्कार हो चुका है। ऐसे भक्त साधारण नियमों का पालन करते हैं और कभी-कभी परस्पर लड़-झगड़ भी पड़ते हैं कि अमुक प्रकार की भक्ति दूसरे से श्रेष्ठ है। वास्तव में ये कनिष्ठ अधिकारी भौतिकतावादी भक्त होते हैं, जो आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचने के लिए भौतिक सीमा को लाँघने मात्र का प्रयत्न कर रहे हैं।

जिन्हें साक्षात्कार की दूसरी अवस्था प्राप्त हो चुकी होती है, वे *मध्यम अधिकारी* कहलाते हैं। ये भक्त चार श्रेणियों के व्यक्तियों के बीच अन्तर को मानने वाले होते हैं—(१) परमेश्वर; (२) भगवद्भक्त; (३) वे अबोध जन जिन्हें भगवान् का कोई ज्ञान नहीं है; और (४) नास्तिक, जो भगवान् पर श्रद्धा नहीं रखते और भक्ति करने वालों से घृणा करते हैं। मध्यम अधिकारी इन चार श्रेणियों के मनुष्यों के प्रति पृथक्-पृथक् प्रकार से वर्ताव करता है। वह भगवान् को प्रेम के पात्र मानकर उनकी पूजा करता है और भक्ति करने वालों से मैत्री स्थापित करता है। वह अबोधों के हृदय में सुप्त भगवत्प्रेम को जगाने का प्रयास करता है, किन्तु वह उन नास्तिकों के पास नहीं जाता, जो भगवान् के नाम से ही घृणा करते हैं।

मध्यम अधिकारी के ऊपर *उत्तम अधिकारी* होता है, जो प्रत्येक वस्तु को परमेश्वर से सम्बन्धित देखता है। ऐसा भक्त नास्तिक तथा आस्तिक में भेदभाव नहीं करता, अपितु हर एक को ईश्वर के अंश

के रूप में देखता है। वह जानता है कि एक विद्वान ब्राह्मण तथा गली के कुत्ते में कोई बड़ा अन्तर नहीं होता, क्योंकि दोनों ही भगवान् के अंश हैं, यद्यपि वे अपने विगत जन्मों के भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न देह धारण किए हैं। वह देखता है कि परमेश्वर के अंशरूप ब्राह्मण ने भगवान् द्वारा प्रदत्त अपनी स्वल्प स्वतंत्रता का दुरुपयोग नहीं किया है और कुत्ता अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करके प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होकर कुत्ते के शरीर में बद्ध है। ब्राह्मण तथा कुत्ते के अपने-अपने कार्यों का विचार किए बिना उत्तम अधिकारी दोनों का कल्याण करने का प्रयास करता है। ऐसा विद्वान भक्त भौतिक शरीरों द्वारा भ्रान्त नहीं होता, अपितु उन जीवों के आन्तरिक आध्यात्मिक स्फुलिंग से आकृष्ट होता है।

जो लोग एकरूपता या मित्रता के भाव का अतिक्रमण करके उत्तम अधिकारी का अनुकरण तो करते हैं, किन्तु देहात्मबुद्धि के स्तर पर आचरण करते हैं, वे वास्तव में झूठे परोपकारी हैं। विश्वबन्धुत्व की धारणा उत्तम अधिकारी से सीखनी चाहिए, न कि किसी ऐसे मूर्ख व्यक्ति से जो आत्मा या भगवान् के परमात्मा के रूप में विस्तार को भी ठीक से नहीं जानता—जो सर्वत्र निवास करते हैं।

इस छठे मंत्र में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि मनुष्य को चाहिए कि वह ठीक तरह से "देखे"। इसका अर्थ यह हुआ कि वह पूर्ववर्ती आचार्य का अनुसरण करे, जो प्रामाणिक शिक्षक है। इस प्रसंग में *अनुपश्यति* अत्यन्त उपयुक्त संस्कृत शब्द है। *अनु* का अर्थ है, अनुसरण करना और *पश्यति* का अर्थ है, देखना। इस प्रकार *अनुपश्यति* शब्द का अर्थ यह हुआ कि वह वस्तुओं को उस

रूप में न देखे, जिस तरह वह अपनी खुली आँखों से देखता है, प्रत्युत पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करे। भौतिक दोषों के कारण आँखें किसी भी वस्तु को ठीक से नहीं देख पातीं। कोई तब तक ठीक से नहीं देख सकता, जब तक उसने किसी श्रेष्ठ स्रोत से "सुन" न रखा हो और सर्वोच्च स्रोत वैदिक ज्ञान है, जो स्वयं भगवान् द्वारा दिया गया है। वैदिक सत्य गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा भगवान् से ब्रह्मा, ब्रह्मा से नारद, नारद से व्यास और व्यास से उनके कई शिष्यों तक आता है। पहले वेदों के सन्देश को अभिलिखित करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि तब लोग अधिक बुद्धिमान तथा प्रखर स्मरणशक्ति वाले होते थे। वे प्रामाणिक गुरु के मुख से मात्र एक बार सुनकर उपदेशों का अनुसरण कर सकते थे।

इस समय शास्त्रों की अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें से अधिकांश श्रील व्यासदेव से प्रारम्भ होने वाली गुरू-शिष्य परम्परा में नहीं है, जिन्होंने पहले-पहल वैदिक ज्ञान का संकलन किया। श्रील व्यासदेव की अन्तिम, परम पूर्ण तथा भव्य कृति *श्रीमद्भागवत* है, जो वेदान्त-सूत्र का सहज भाष्य है। *भगवद्गीता* भी एक कृति है, जिसका प्रवचन स्वयं भगवान् ने किया और व्यासदेव ने उसको लिपिबद्ध किया। ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शास्त्र हैं और ऐसी कोई भी टीका जो *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* के सिद्धान्तों के विपरीत है, अवैध है। उपनिषदों, वेदान्तसूत्र, वेदों, *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के मध्य पूर्ण साम्य है और किसी को वेदों के सम्बन्ध में तब तक किसी भी निर्णय तक पहुँचने का प्रयास नहीं करना चाहिए, जब तक उसे व्यासदेव की गुरु-शिष्य परम्परा के सदस्यों से आदेश न प्राप्त हो जाएँ, जो भगवान् तथा

उनकी विभिन्न शक्तियों पर विश्वास करते हैं, जैसे कि *श्रीईशोपनिषद्* में व्याख्या हुई है।

भगवद्गीता (१८.५४) के अनुसार, जो पहले से मुक्त पद (*ब्रह्मभूत*) पर आसीन है और प्रत्येक जीव को अपना ही भाई मानता है, वही उत्तम-अधिकारी भक्त बन सकता है। ऐसी दृष्टि राजनीतिज्ञों को नहीं प्राप्त हो सकती, जो सदैव किसी न किसी भौतिक लाभ के पीछे पड़े रहते हैं। जो व्यक्ति उत्तम अधिकारी के लक्षणों का अनुकरण करता है, वह भले ही किसी दूसरे के बाहरी शरीर की सेवा यश या भौतिक लाभ के लिए करे, लेकिन वह आत्मा की सेवा नहीं करता। ऐसे अनुकरणकर्ता (नकलची) को आध्यात्मिक जगत की कोई जानकारी नहीं मिल सकती। उत्तम अधिकारी भौतिक शरीर में ही जीवात्मा का दर्शन करता है और आत्मा के रूप में उसकी सेवा करता है। इस प्रकार भौतिक पक्ष की स्वतः सेवा हो जाती है। •

मंत्र सात

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

यस्मिन्—जिस स्थिति में; **सर्वाणि**—सभी; **भूतानि**—जीव; **आत्मा**—*चित् कण* या आध्यात्मिक स्फुलिंग; **एव**—केवल; **अभूत्**—की तरह विद्यमान; **विजानतः**—जानने वाले का; **तत्र**—वहाँ पर; **कः**—क्या; **मोहः**—मोह; **कः**—क्या; **शोकः**—शोक; **एकत्वम्**—गुण की एकता; **अनुपश्यतः**—प्रमाण के माध्यम से देखने वाले का या उस तरह निरन्तर देखने वाले का।

अनुवाद

जो सदैव समस्त जीवों को आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में भगवान् के ही समान गुण वाला देखता है, वही वस्तुओं का असली ज्ञाता हो जाता है। तो फिर उसके लिए मोह या चिन्ता कैसी?

तात्पर्य

मध्यम अधिकारी तथा उत्तम अधिकारी, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति जीव की आध्यात्मिक स्थिति को सही-सही नहीं देख पाता। गुणात्मक दृष्टि से जीव परमेश्वर से अभिन्न हैं, जिस प्रकार अग्नि के स्फुलिंग और अग्नि गुण की दृष्टि से एक हैं। फिर भी मात्रा कि दृष्टि से ये

स्फुलिंग अग्नि के समान नहीं हैं, क्योंकि स्फुलिंग में ताप तथा प्रकाश की जो मात्रा रहती है, वह अग्नि के ताप तथा प्रकाश की मात्रा के तुल्य नहीं होती। महाभागवत को इनमें एकत्व इसलिए दिखता है, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को परमेश्वर की शक्ति के रूप में देखता है। चूँकि शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं होता, अतएव उनमें एकत्व का भाव होता है। यद्यपि विश्लेषणात्मक दृष्टि से ताप तथा प्रकाश अग्नि से भिन्न हैं, तथापि ताप तथा प्रकाश के बिना 'अग्नि' शब्द का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसलिए सामासिक रूप में ताप, प्रकाश तथा अग्नि सभी एक हैं।

इस मंत्र में *एकत्वम् अनुपश्यतः* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह प्रामाणिक शास्त्रों की दृष्टि से समस्त जीवों के एकत्व को देखे। परम पूर्ण (भगवान्) के पृथक्-पृथक् स्फुलिंगों में पूर्ण के लगभग अस्सी प्रतिशत ज्ञात गुण पाए जाते हैं, लेकिन मात्रा में वे परमेश्वर के तुल्य नहीं होते। ये गुण सूक्ष्म मात्रा में उपस्थित रहते हैं, क्योंकि जीव उन परम पूर्ण का क्षुद्र अंश ही होता है। यदि हम दूसरी उपमा प्रयोग में लाएँ, तो कह सकते हैं कि समुद्र की एक बूँद में जितनी मात्रा में नमक होता है, वह कभी भी पूरे समुद्र में उपस्थित नमक की मात्रा के तुल्य नहीं होता। लेकिन एक बूँद में उपस्थित नमक अपने रासायनिक संघटन में सारे समुद्र में उपस्थित नमक के ही समान होता है। यदि गुण तथा मात्रा दोनों की दृष्टि से व्यष्टि जीव परमेश्वर के तुल्य होता, तो उसके भौतिक प्रकृति के वश में होने का प्रश्न ही न उठता। पिछले मंत्रों में बताया जा चुका है कि कोई भी जीव—यहाँ तक कि बलशाली देवता भी—परम पुरुष से किसी भी प्रकार से बढ़कर नहीं हो

सकते। अतएव *एकत्वम्* का अर्थ यह नहीं है कि जीव सभी प्रकार से परमेश्वर के समान है। इतना संकेत अवश्य है कि व्यापक अर्थ में दोनों का एक ही अभीष्ट प्रयोजन है, जिस प्रकार एक परिवार के सभी सदस्यों का एक ही स्वार्थ रहता है या कि राष्ट्र में राष्ट्रीय स्वार्थ एक ही होता है, भले ही नागरिक कितने विभिन्न व्यक्ति क्यों न हों। चूँकि सारे जीव एक ही परम परिवार के अंश हैं, परम पुरुष तथा इन अंशों का स्वार्थ भिन्न नहीं है। प्रत्येक जीव परम पुरुष का पुत्र है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.५) में कहा गया है, ब्रह्माण्डभर के सभी जीव जिनमें पक्षी, सरीसृप, चींटियाँ, जलचर, वृक्ष इत्यादि सम्मिलित हैं, परमेश्वर की तटस्था शक्ति से उद्भूत हैं। अतएव ये सभी परम पुरुष के परिवार से सम्बन्धित हैं। इन में स्वार्थों का टकराव नहीं है।

आध्यात्मिक जीव भोग के निमित्त हैं, जैसाकि वेदान्त सूत्र (१.१.१२) में वर्णित है—*आनन्दमयोऽभ्यासात्।* प्रकृति एवं संरचना दोनों की दृष्टि से प्रत्येक जीव, जिसमें परमेश्वर तथा उनका प्रत्येक अंश सम्मिलित हैं, शाश्वत आनन्द के लिए है। जीव जो कि शरीर के बन्धन से जकड़े हुए हैं, निरन्तर आनन्द की तलाश में रहते हैं, लेकिन वे उसकी खोज गलत स्तर पर करते हैं। इस भौतिक स्तर के अतिरिक्त एक आध्यात्मिक स्तर भी होता है, जहाँ परम पुरुष अपने असंख्य पार्षदों सहित आनन्द भोगते हैं। वहाँ पर भौतिक गुणों का लेश मात्र भी नहीं रहता, अतएव यह स्तर *निर्गुण* कहलाता है। निर्गुण स्तर पर भोग की वस्तु को लेकर कभी कोई झगड़ा नहीं होता। लेकिन इस भौतिक जगत में विभिन्न जीवों के बीच निरन्तर टकराव होता रहता है, क्योंकि यहाँ पर भोग का

उपयुक्त केन्द्र उपेक्षित है। भोग के असली केन्द्र तो परमेश्वर हैं, जो भव्य तथा आध्यात्मिक रास नृत्य के केन्द्र हैं। हम सब उनके साथ रहने तथा दिव्य रुचि तथा विरोधरहित जीवन बिताने के लिए हैं। आध्यात्मिक रुचि का यह उच्चतम स्तर है और ज्योंही कोई एकत्व के इस पूर्ण रूप को पा लेता है, त्योंही मोह या शोक का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

ईश्वरविहीन सभ्यता का उदय माया से होता है और ऐसी सभ्यता का परिणाम परिताप या शोक होता है। आधुनिक राजनीतिज्ञों ने जिस प्रकार की ईश्वरविहीन सभ्यता का प्रतिपादन किया है, वह सदा चिन्ताओं से ओतप्रोत रहती है, क्योंकि यह किसी भी समय ध्वस्त की जा सकती है—यही प्रकृति का नियम है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा गया है कि जिन लोगों ने भगवान् के चरणकमलों में आत्मसमर्पण कर रखा है, उनके सिवाय कोई भी प्रकृति के कड़े नियमों को नहीं लाँघ सकता। इसलिए यदि हम सभी प्रकार के मोह तथा चिन्ता से मुक्त होना चाहते हैं और अपने विभिन्न स्वार्थों में एकत्व लाना चाहते हैं, तो हमें अपने सारे कार्यकलापों के मध्य ईश्वर को लाना होगा।

हमारे कार्यकलापों के फलों का उपयोग केवल भगवान् के हित में होना चाहिए, अन्य किसी प्रयोजन के लिए नहीं। केवल भगवान् का हित ध्यान में रखकर ही हम यहाँ पर वर्णित *आत्म-भूत* शब्द तथा *भगवद्गीता* (१८.५४) में वर्णित *ब्रह्म-भूत* शब्द को समझ सकते हैं, जिनका अभिप्राय एक ही है। परम आत्मा तो स्वयं भगवान् हैं और सूक्ष्म आत्मा जीव है। परमात्मा अकेले ही सारे व्यष्टि सूक्ष्म जीवों का पालन करते हैं, क्योंकि परमात्मा उनके स्नेह

से आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। पिता पुत्रों के माध्यम से अपना विस्तार करता है और आनन्द प्राप्त करने के लिए उनका पालन करता है। यदि पुत्र पिता की इच्छा के प्रति आज्ञाकारी होते हैं, तो परिवार के सारे कार्य सुरुचि-पूर्ण तथा सुखमय वातावरण में सुचारु रूप से चलते रहते हैं। ठीक यही स्थिति परब्रह्म के परिवार में दिव्य रूप से नियोजित रहती है।

परब्रह्म जीवात्मा के समान एक व्यक्ति हैं। न तो भगवान् निराकार हैं, न ही जीव निराकार है। ऐसे दिव्य व्यक्तित्व दिव्य आनन्द, ज्ञान तथा शाश्वत जीवन से परिपूर्ण रहते हैं। आध्यात्मिक जीवन की यही असली स्थिति है और ज्योंही मनुष्य को इस आध्यात्मिक पद का बोध हो जाता है, त्योंही वह परम पुरुष श्रीकृष्ण के चरणकमलों में समर्पित हो जाता है। किन्तु ऐसे महात्मा का दर्शन विरले ही होता है, क्योंकि ऐसी दिव्य अनुभूति अनेकानेक जन्मों के बाद ही प्राप्त होती है। किन्तु एक बार प्राप्त हो जाने पर किसी तरह का मोह या शोक या भौतिक अस्तित्व के दुख, जन्म तथा मृत्यु नहीं रह जाते, जो हमारे वर्तमान जीवन में अनुभव किए जाते हैं। *श्रीईशोपनिषद्* के इस मंत्र से हमें यही जानकारी प्राप्त होती है। •

मंत्र आठ

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

सः—वह व्यक्ति; **पर्यगात्**—वास्तव में जानना चाहिए; **शुक्रम्**—सर्वशक्तिमान; **अकायम्**—अदेहधारी; **अव्रणम्**—अनिन्द्य; **अस्नाविरम्**—नसों (शिराओं) से रहित; **शुद्धम्**—पूतिरोधी; **अपापविद्धम्**—रोगनिरोधी; **कविः**—सर्वज्ञ; **मनीषी**—दार्शनिक; **परिभूः**—सबसे बड़ा; **स्वयम्भूः**—आत्म-निर्भर, आत्माराम; **याथातथ्यतः**—के अनुसार; **अर्थान्**—इच्छित; **व्यदधात्**—पुरस्कार देता है; **शाश्वतीभ्यः**—अनादि; **समाभ्यः**—काल से।

अनुवाद

ऐसे पुरुष को सही-सही जानना चाहिए कि वे सब से महान् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कौन हैं, जो अदेहधारी, सर्वज्ञ, अनिन्द्य, शिराओं से विहीन, शुद्ध, अदूषित, आत्मनिर्भर दार्शनिक हैं और जो अनादिकाल से हर एक की इच्छापूर्ति कर रहे हैं।

तात्पर्य

यह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दिव्य एवं शाश्वत स्वरूप का

वर्णन है। परमेश्वर रूपविहीन (निराकार) नहीं हैं। उनका अपना ही दिव्य रूप है, जो इस भौतिक जगत के रूपों से तनिक भी मेल नहीं खाता। इस जगत के जीवों के रूप भौतिक प्रकृति में बद्ध हैं और वे एक भौतिक यंत्र (मशीन) के समान कार्य करते हैं। भौतिक शरीर की संरचना रक्त वाहिनियों इत्यादि के साथ एक यांत्रिक बनावट होती है। लेकिन परमेश्वर के दिव्य शरीर में शिराओं जैसा कुछ नहीं होता। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि वे अदेहधारी हैं, जिसका अर्थ यह है कि उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। न ही वे प्रकृति के नियमों के अनुसार शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य होते हैं, जैसाकि हम होते हैं। भौतिक बद्धावस्था में आत्मा स्थूल देह तथा सूक्ष्म मन से भिन्न है। किन्तु भगवान् की देह, मन तथा स्वयं उनमें कोई अन्तर नहीं है। वे परम पूर्ण हैं और उनका मन, शरीर तथा स्वयं वे सभी एक ही हैं।

ब्रह्म-संहिता (५.१) में परमेश्वर का ऐसा ही वर्णन मिलता है। उसमें उन्हें *सच्चिदानन्द विग्रह* कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वे दिव्य अस्तित्व, ज्ञान तथा आनन्द का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाले शाश्वत स्वरूप हैं। अतः उन्हें पृथक् शरीर अथवा मन की आवश्यकता नहीं होती, जैसे हमें भौतिक अस्तित्व में होती है। वैदिक ग्रंथों में स्पष्ट कथन है कि भगवान का दिव्य शरीर हमारे शरीर से सर्वथा भिन्न होता है। इसलिए उन्हें कभी-कभी निराकार कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि उनका स्वरूप हमारे समान नहीं होता और वे ऐसे रूप से विहीन हैं, जिसकी हम कल्पना कर सकें। *ब्रह्म-संहिता* (५.३२) में आगे यह भी कहा गया है कि भगवान् अपने शरीर के किसी भी अंग से दूसरी इन्द्रियों का काम

भी कर सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे अपने हाथों से चल सकते हैं, अपने पाँवों से वस्तुएँ पकड़ सकते हैं, अपने हाथों तथा पैरों से देख सकते हैं, अपनी आँखों से खा सकते हैं, इत्यादि इत्यादि। श्रुतिमंत्रों में यह भी कहा गया है कि यद्यपि भगवान् को हमारे जैसे हाथ, पाँव नहीं होते, किन्तु उनके भिन्न प्रकार के हाथ एवं पैर होते हैं, जिनसे वे हमारे द्वारा अर्पित हर वस्तु ग्रहण कर सकते हैं और किसी की भी अपेक्षा अधिक तेज दौड़ सकते हैं। इस आठवें मंत्र में इन सारे तथ्यों की *शुक्रम* (सर्वशक्तिमान) जैसे शब्द के उपयोग से पुष्टि होती है।

भगवान् का पूज्य स्वरूप (*अर्चाविग्रह*) जिसकी स्थापना ऐसे प्रामाणिक आचार्यों द्वारा मन्दिरों में की जाती है, जिन्होंने सातवें मंत्र के अनुसार भगवान् का साक्षात्कार किया है, भगवान् के मूल स्वरूप से अभिन्न है। भगवान् का मूल स्वरूप श्रीकृष्ण का है और श्रीकृष्ण अपना विस्तार असंख्य रूपों में यथा बलदेव, राम, नृसिंह, वराह आदि में करते हैं। ये सारे के सारे स्वरूप एक ही भगवान् हैं। इसी तरह जिस अर्चाविग्रह की मन्दिरों में पूजा की जाती है, वह भी भगवान् का विस्तारित रूप है। अर्चाविग्रह की पूजा करके मनुष्य तुरन्त उन भगवान् के निकट पहुँच सकता है, जो अपनी सर्वव्यापक शक्ति से भक्त की सेवा स्वीकार करते हैं। भगवान् का अर्चाविग्रह आचार्यों के अनुरोध पर अवतरित होता है और वह उनकी सर्वशक्तिमत्ता के बल पर अपने मूल रूप की तरह ही कार्य करता है। जिन मूर्ख लोगों को *श्रीईशोपनिषद्* का या किसी भी अन्य श्रुति मंत्रों का ज्ञान नहीं है, वे शुद्ध भक्तों द्वारा पूजित अर्चाविग्रह को भौतिक तत्त्वों से निर्मित मानते हैं। यह स्वरूप मूर्ख लोगों या कनिष्ठ अधिकारियों को उनकी अपूर्ण दृष्टि के कारण भौतिक दिखता है, लेकिन ऐसे लोग यह नहीं जानते कि भगवान् सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ होने के कारण इच्छानुसार जड़ को चेतन और चेतन को जड़ में बदल सकते हैं।

भगवद्गीता (९.११-१२) में भगवान् उन अल्पज्ञ व्यक्तियों की पतितावस्था पर खेद प्रकट करते हैं, जो भगवान् का इसलिए उपहास करते हैं कि वे मनुष्य की भाँति इस जगत में अवतरित होते हैं। ऐसे अल्पज्ञ व्यक्ति भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता को नहीं जानते। इस प्रकार मानसिक तर्कवादियों के लिए भगवान् कभी पूर्ण रूप में प्रकट नहीं होते। वे उनके प्रति व्यक्ति की शरणागति की मात्रा के अनुसार ही जाने जा सकते हैं। जीवों की पतितावस्था का एकमात्र कारण ईश्वर के साथ अपने सम्बन्धों की विस्मृति ही है।

इस मंत्र में तथा अन्य अनेक वैदिक मंत्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् अनादि काल से जीवों को सारी वस्तुएँ प्रदान करते रहे हैं। जीव जो वस्तु चाहता है, भगवान् उस जीव की योग्यता के अनुपात से उसे प्रदान करते हैं। यदि कोई मनुष्य उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनना चाहता है, तो उसे न केवल आवश्यक योग्यताएँ अर्जित करनी होंगी, अपितु उसे उस अधिकारी की सहमति भी प्राप्त करनी होगी, जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की पदवी प्रदान कर सकता है। पद-प्राप्ति के लिए मात्र योग्यताएँ ही पर्याप्त नहीं होंगी। यह पद किसी श्रेष्ठ अधिकारी द्वारा प्रदान किया जाना चाहिए। इसी प्रकार भगवान् जीवों को उनकी योग्यताओं के अनुसार भोग प्रदान करते हैं। किन्तु मात्र योग्यताएँ ही पुरस्कार पाने के लिए पर्याप्त नहीं होतीं। भगवान् की कृपा की

भी आवश्यकता होती है।

सामान्यतया जीव यह नहीं जानता कि भगवान् से क्या माँगा जाए या उनसे किस पद के लिए याचना की जाए? किन्तु जब जीव को अपनी वैधानिक स्थिति का पता चल जाता है, तो वह याचना करता है कि उसे भगवान् अपनी दिव्य संगति के लिए स्वीकार करें, जिससे वह उनकी दिव्य प्रेममयी सेवा कर सके। दुर्भाग्यवश सारे जीव भौतिक प्रकृति के वशीभूत होकर अनेक अन्य वस्तुएँ माँगते हैं। उनकी इस मनोवृत्ति का वर्णन *भगवद्गीता* (२.४१) में बिखरी या विभक्त बुद्धि के रूप में किया गया है। आध्यात्मिक बुद्धि एक है, लेकिन दुन्यवी बुद्धि विविध प्रकार की है। *श्रीमद्भागवत* (७.५.३०-३१) में कहा गया है कि जो लोग बहिरंगा शक्ति के क्षणिक सौन्दर्य से मोहित हो जाते हैं, वे जीवन के असली उद्देश्य को भूल जाते हैं, जोकि भगवद्धाम वापस जाना होता है। इसे भूलकर मनुष्य अनेक योजनाओं तथा कार्यक्रमों द्वारा संतुलन लाना चाहता है, लेकिन यह तो चबाये हुए को फिर से चबाने की भाँति है। फिर भी भगवान् इतने कृपालु हैं कि वे भुलक्कड़ जीव को बिना किसी अवरोध के इसी तरह आगे चलने देते हैं। अतः *ईशोपनिषद्* का यह मंत्र अत्यन्त उचित शब्द *याथातथ्यतः* का उपयोग करता है, जिससे यह सूचित होता है कि भगवान् जीवों को उनकी इच्छाओं के अनुसार पुरस्कृत करते हैं। यदि कोई जीव नरक जाना चाहता है, तो भगवान् बिना रोक टोक के उसे ऐसा करने देते हैं और यदि वह घर वापस जाना चाहता है अर्थात् भगवद्धाम वापस जाना चाहता है, तो वे उसकी सहायता करते हैं।

यहाँ पर ईश्वर को *परिभूः* अर्थात् सबसे बड़े कहे गये हैं। कोई

भी उनसे बड़ा या उनके बराबर नहीं है। अन्य जीवों को भिक्षुक रूप में बताया गया है, जो भगवान् से वस्तुओं की भीख माँगते हैं। भगवान् जीवों को उनकी इच्छित वस्तुएँ प्रदान करते हैं। जीव यदि शक्ति में भगवान् के समान होते अथवा यदि वे सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ होते, तो भगवान् के समक्ष याचना करने का, यहाँ तक कि तथाकथित मुक्ति मांगने का भी प्रश्न न उठता। वास्तविक मुक्ति का अर्थ है, भगवद्धाम को वापस जाना। निर्विशेषवादी द्वारा परिकल्पित मुक्ति मात्र कपोलकल्पना है और इन्द्रियतृप्ति के लिए याचना तो तब तक चलती रहेगी, जब तक याचक को अपनी आध्यात्मिक तथा वैधानिक स्थिति की अनुभूति न हो जाए।

केवल परमेश्वर ही आत्मनिर्भर हैं। ५००० वर्ष पूर्व जब भगवान् कृष्ण इस पृथ्वी पर प्रकट हुए, तो उन्होंने अपने विभिन्न कार्यकलापों द्वारा भगवान् की पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदर्शित की। अपनी बाल्यावस्था में उन्होंने अघासुर, बकासुर तथा शकटासुर जैसे अनेक शक्तिशाली असुरों का वध किया और किसी बाहरी प्रयास से उनमें इतनी शक्ति आ जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने भारोत्तोलन का कोई अभ्यास किए बिना ही गोवर्धन पर्वत उठा लिया। उन्होंने किसी सामाजिक बन्धन तथा निन्दा का विचार किए बिना गोपियों के साथ रास रचाई। यद्यपि गोपियाँ उनके पास काम-भाव से पहुँचीं, तथापि गोपियों तथा श्रीकृष्ण के सम्बन्ध की पूजा चैतन्य महाप्रभु तक ने की, जो कठोर संन्यासी थे तथा अनुशासन के नियमों के कट्टर पालक थे। *श्रीईशोपनिषद्* में भी इस बात की पुष्टि करने के लिए कि भगवान् सदैव शुद्ध और अदूषित हैं, उन्हें *शुद्धम्* अर्थात् शुद्ध तथा *अपापविद्धम्* अर्थात् पापों से मुक्त करने

वाले कहकर वर्णित किया गया है। वे इस दृष्टि से शुद्ध हैं कि यदि कोई अशुद्ध वस्तु भी उनका स्पर्श कर लें, तो वह शुद्ध हो जाती है। *अपापविद्धम्* शब्द उनके संसर्ग की शक्ति को बताने वाला है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३०-३१) में कहा गया है, भक्त प्रारम्भ में *सुदुराचार* अर्थात् उत्तम आचार से रहित प्रतीत हो सकता है, लेकिन उसे शुद्ध मानना होगा क्योंकि वह सही मार्ग पर है। यह भगवान् की संगति की *अपापविद्धम्* प्रकृति के कारण है। भगवान् *अपापविद्धम्* इसलिए भी हैं, क्योंकि पाप उन्हें छू भी नहीं सकता। यदि वे इस तरह के कार्य भी करें, जो पापपूर्ण प्रतीत होता हो, तो भी ऐसे कर्म शुभ होते हैं क्योंकि पाप द्वारा उनके प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। चूँकि वे सभी परिस्थितियों में *शुद्धम्* अर्थात् सर्वाधिक शुद्ध हैं, अतएव उनकी तुलना बहुधा सूर्य से की जाती है। सूर्य पृथ्वी के अनेक अस्पृश्य स्थानों से आर्द्रता निकाल लेता है, फिर भी वह शुद्ध बना रहता है। निस्सन्देह, वह अपनी कीटाणुनाशक शक्ति से दुर्गंध वाली वस्तुओं को शुद्ध करता है। यदि सूर्य, जो कि भौतिक वस्तु है, इतना शक्तिमान हो सकता है, तो हम सर्वशक्तिमान भगवान् की शुद्ध करने की शक्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते। •

मंत्र नौ

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाः रताः ॥ ९ ॥

अन्धम्—निपट अज्ञान; **तमः**—अँधेरा; **प्रविशन्ति**—प्रवेश करते हैं; **ये**—जो; **अविद्याम्**—अविद्या की; **उपासते**—पूजा करते हैं; **ततः**—उससे; **भूयः**—और अधिक; **इव**—सदृश; **ते**—वे; **तमः**—अंधकार; **ये**—जो; **उ**—भी; **विद्यायाम्**—ज्ञान के अनुशीलन में; **रताः**—लगे हुए।

अनुवाद

जो लोग अविद्यापूर्ण कार्यकलापों के अनुशीलन में लगे हुए हैं, वे अज्ञान के गहनतम क्षेत्र में प्रवेश करेंगे। इनसे भी निकृष्ट वे हैं, जो तथाकथित ज्ञान के अनुशीलन में लगे हुए हैं।

तात्पर्य

इस मंत्र में *विद्या* तथा *अविद्या* का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। अविद्या अर्थात् अज्ञान निस्सन्देह घातक है, लेकिन विद्या उससे भी अधिक घातक होती है, यदि वह पथभ्रष्ट हो। *श्रीईशोपनिषद्* का यह मंत्र विगतकाल की अपेक्षा आज अधिक प्रासंगिक है। आधुनिक सभ्यता जन-शिक्षा के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ गई है, लेकिन इसका परिणाम यह है कि लोग पहले से अधिक दुखी हैं, क्योंकि जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग अर्थात् आध्यात्मिक पहलू को छोड़कर, भौतिक प्रगति पर अधिक बल

दिया जा रहा है।

जहाँ तक विद्या का सम्बन्ध है, पहले मंत्र से स्पष्ट है कि भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं और इस तथ्य को भुलाना ही अविद्या है। मनुष्य जितना ही जीवन के इस तथ्य को भूलता है, उतना ही अधिक वह अंधकार में रहता है। इस दृष्टि से तथाकथित शिक्षा की प्रगति की ओर उन्मुख ईश्वरविहीन विद्या अधिक घातक है, अपेक्षाकृत उस सभ्यता के जिसमें सामान्य जनता कम "शिक्षित" है।

मनुष्यों के विभिन्न वर्ग हैं—*कर्मी, ज्ञानी* तथा *योगी*। इनमें से कर्मी वे हैं, जो इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में व्यस्त रहते हैं। आधुनिक सभ्यता में प्राय: ९९.९ प्रतिशत लोग उद्योगवाद, आर्थिक विकास, परोपकार, राजनैतिक सक्रियतावाद इत्यादि के नाम पर इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में लगे हुए हैं। ये सभी कार्य न्यूनाधिक इन्द्रियतृप्ति पर आधारित हैं, जिनमें प्रथम मंत्र में वर्णित ईश-चेतना सम्मिलित नहीं है।

भगवद्गीता (७.१५) के मत में ऐसे लोग जो निपट इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं, वे मूढ़ या गधे हैं। गधा मूर्खता का प्रतीक है। जो लोग मात्र इन्द्रियतृप्ति की व्यर्थ खोज में लगे रहते हैं, वे *श्रीईशोपनिषद्* के अनुसार अविद्या की पूजा कर रहे हैं। और जो लोग शिक्षा के विकास के नाम पर इस प्रकार की सभ्यता की सहायता कर रहे हैं, वे वास्तव में उन लोगों की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचा रहे हैं, जो निपट इन्द्रियतृप्ति के स्तर पर हैं। नास्तिक लोगों के द्वारा विद्या की प्रगति उतनी ही खतरनाक है, जितनी कि सर्प के फण पर बहुमूल्य मणि होती है। मणि से विभूषित सर्प

मणिविहीन सर्प से अधिक घातक होता है। *हरिभक्ति सुधोदय* (३.११.१२) में ईश्वरविहीन लोगों द्वारा शिक्षा की उन्नति की तुलना शव के श्रृंगार से की गई है। भारत में अनेक अन्य देशों के ही समान कुछ लोग शोकसंतप्त सम्बन्धियों को प्रसन्न करने के लिए शव को सजाकर शवयात्रा निकालने की प्रथा का अनुकरण करते हैं। इसी प्रकार आधुनिक सभ्यता के कार्यकलाप भौतिक अस्तित्व द्वारा निरंतर दिये जाने वाले दुखों को ढकने के लिए पैबंद लगाने के समान हैं। ऐसे सभी कार्य इन्द्रियतृप्ति को लक्ष्य बनाकर किए जाते हैं। लेकिन इन्द्रियों के ऊपर मन है और मन के ऊपर बुद्धि है और बुद्धि के ऊपर आत्मा है। इस तरह असली शिक्षा का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार अर्थात् आत्मा के आध्यात्मिक गुणों की अनुभूति करना होना चाहिए। कोई भी शिक्षा जो ऐसी अनुभूति को प्राप्त नहीं करवा पाती, अविद्या मानी जानी चाहिए। ऐसी अविद्या के पल्लवन का अर्थ अज्ञान के गहन गर्त में जाना है।

भगवद्गीता (२.४२, ७.१५) के अनुसार भ्रान्त संसारी शिक्षक, *वेदवादरत* तथा *माययापहृत-ज्ञान* के रूपों में जाने जाते हैं। वे नास्तिक असुर—नराधम—भी हो सकते हैं। जो लोग *वेदवादरत* हैं, वे अपने आपको वैदिक साहित्य में प्रकाण्ड विद्वान दर्शाते हैं, लेकिन दुर्भाग्यवश वे वेदों के लक्ष्य से पूर्णतया विपथ रहते हैं। *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है कि वेदों का लक्ष्य तो भगवान् को जानना है। लेकिन ये वेदवादरत लोग भगवान् में बिल्कुल रुचि नहीं लेते। इसके विपरित वे स्वर्ग की प्राप्ति जैसे सकाम कर्मों के प्रति मोहित रहते हैं।

जैसाकि मंत्र १ में कहा गया है, हमें यह जानना चाहिए कि

भगवान् हर वस्तु के स्वामी हैं और हमें जीवन की आवश्यकताओं के लिए प्राप्त नियत अंश से सन्तुष्ट होना चाहिए। समस्त वैदिक साहित्य का उद्देश्य भुलक्कड़ जीव में इस भगवत्-चेतना को जाग्रत करना है और यही लक्ष्य विविध प्रकार से संसार के विभिन्न शास्त्रों में मूर्ख मानव जाति के समझने के लिए प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः इन सारे धर्मों का चरम लक्ष्य है, मनुष्य को भगवद्धाम वापस ले जाना।

किन्तु *वेदवादरत* लोग वेदों के प्रयोजन को, जो कि भुलक्कड़ जीव के भगवान् से विस्मृत सम्बन्ध को पुनः जाग्रत करना है, न समझकर यह मान कर चलते हैं कि ऐसे गौण विषय वेदों के अन्तिम लक्ष्य हैं—यथा इन्द्रियों की तृप्ति के लिए स्वर्गिक आनन्द की प्राप्ति—और यही कामवासना सर्वप्रथम भौतिक बन्धन का कारण बनती है। ऐसे लोग वैदिक साहित्य की गलत व्याख्या करके अन्य लोगों को भ्रान्त करते हैं। कभी-कभी वे पुराणों की भी भर्त्सना करते हैं, जबकि सामान्य लोगों के लिए ये पुराण प्रामाणिक वैदिक व्याख्याएँ हैं। वेदवादरत लोग वेदों की अपनी खुद की व्याख्या करते हैं और महान् आचार्यों के प्रमाण की उपेक्षा करते हैं। वे अपने ही बीच में से किसी कपटी व्यक्ति को ऊपर उठाकर उसे वैदिक ज्ञान का अग्रणी बताकर प्रचार करने की प्रवृति भी रखते हैं। ऐसे वेदवदरत लोगों की भर्त्सना इस मंत्र में *विद्यायां रताः* जैसे उपयुक्त संस्कृत शब्द के द्वारा विशेष तौर पर की गई है। *विद्यायां* का अर्थ है वेदाध्ययन क्योंकि वेद ही ज्ञान के मूल हैं तथा *रताः* का अर्थ है, लगे हुए। इस प्रकार *विद्यायां रताः* का अर्थ हुआ, वे लोग जो वेदों के अध्ययन में लगे हुए हैं। यहाँ पर वेदों के तथाकथित विद्यार्थियों की भर्त्सना की गई है, क्योंकि वे आचार्यों की आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण वेदों के वास्तविक प्रयोजन को नहीं जानते। ऐसे वेदवादरत लोग वेदों के प्रत्येक शब्द का ऐसा अर्थ ढूँढ़ते हैं, जो उनके प्रयोजनों के अनुकूल हो। वे यह नहीं जानते कि वैदिक साहित्य असाधारण ग्रन्थों का संग्रह है, जिन्हें केवल गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा ही समझा जा सकता है।

वेदों के दिव्य सन्देश को समझने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाना होता है। यह मुण्डक उपनिषद् (१.२.१२) का निर्देश है। लेकिन इन वेदवादरतों के अपने खुद के आचार्य होते हैं, जो दिव्य परम्परा की शृंखला में नहीं होते। इस प्रकार वे वैदिक साहित्य की मनमानी व्याख्या करके अज्ञान के गहनतम क्षेत्र की ओर चले जाते हैं। वे उन लोगों से भी अधिक गहरे अज्ञान में गिरते हैं, जिन्हें वेदों का तनिक भी ज्ञान नहीं है।

माययापहृत-ज्ञान श्रेणी के लोग स्वनिर्मित "ईश्वर" होते हैं। ऐसे लोग अपने आप को ईश्वर मानते हैं और उनके अनुसार किसी अन्य ईश्वर को पूजने की आवश्यकता नहीं होती। यदि कोई धनी व्यक्ति हुआ, तो वे उसके सामान्य पुरुष होने पर भी उसकी पूजा करना स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन वे कभी भी परमेश्वर की पूजा नहीं करेंगे। ऐसे लोग अपनी मूर्खता को न पहचान पाने के कारण कभी भी यह नहीं सोचते कि भला ईश्वर माया से कैसे बँध सकते हैं, क्योंकि माया स्वयं उनकी भ्रामक शक्ति है। यदि ईश्वर कभी माया से बँधे होते, तो माया ईश्वर से अधिक शक्तिशाली होती। ऐसे लोग कहते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं, लेकिन वे यह नहीं सोचते कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं, तो माया से उनके परास्त होने की

कोई सम्भावना नहीं है। ये स्वनिर्मित "भगवान्" इन सारे प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाते; वे केवल खुद "ईश्वर" बने रहने में प्रसन्न रहते हैं। •

मंत्र दस

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥ १०॥

अन्यत्—भिन्न; **एव**—निश्चय ही; **आहुः**—कहा; **विद्यया**—ज्ञान के विकास से; **अन्यत्**—भिन्न; **आहुः**—कहा; **अविद्यया**—अज्ञान के विकास से; **इति**—इस प्रकार; **शुश्रुम**—मैंने सुना; **धीराणाम्**—धीर व्यक्तियों से; **ये**—जो; **नः**—हमसे; **तत्**—वह; **विचचक्षिरे**—वर्णन किया।

अनुवाद

मनीषियों ने बताया है कि ज्ञान के विकास से एक फल प्राप्त होता है, जबकि अज्ञान के विकास से दूसरा ही (भिन्न) फल प्राप्त होता है।

तात्पर्य

जैसाकि *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय (१३.८-१२) में उपदेश दिया गया है, मनुष्य को निम्नलिखित विधि से ज्ञान का विकास करना चाहिए :

(१) मनुष्य को स्वयं भद्रपुरुष बनकर अन्यों का समुचित सम्मान करना सीखना चाहिए।

(२) मनुष्य को केवल नाम तथा यश के लिए कभी धर्मात्मा का स्वांग नहीं करना चाहिए।

(३) मनुष्य को अपने शरीर के कार्यों, अपने मन के विचारों या अपने वचनों से कभी दूसरों की परेशानियों का कारण नहीं बनना चाहिए।

(४) मनुष्य को अन्यों के द्वारा उकसाये जाने पर भी धैर्य बनाये रखना सीखना चाहिए।

(५) मनुष्य को अन्यों के साथ व्यवहार में छल करने से बचना सीखना चाहिए।

(६) मनुष्य को ऐसा प्रामाणिक गुरु खोजना चाहिए, जो उसे क्रमशः आध्यात्मिक साक्षात्कार की अवस्था तक ले जा सके। उसे ऐसे गुरु का शरणागत बनकर उनकी सेवा करनी चाहिए और यथावश्यक प्रश्न पूछने चाहिए।

(७) आत्म-साक्षात्कार के पद तक पहुँचने के लिए मनुष्य को प्रामाणिक शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट विधिविधानों का पालन करना चाहिए।

(८) मनुष्य को प्रामाणिक शास्त्रों के सिद्धान्तों में दृढ़ रहना चाहिए।

(९) मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार में बाधक आदतों को पूर्णतया छोड़ देना चाहिए।

(१०) मनुष्य को शरीर के पालन के लिए आवश्यकता से अधिक ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(११) मनुष्य को न तो स्थूल देह को अपना स्व मानना चाहिए, न ही इस शरीर से सम्बन्धित लोगों को अपना मानना चाहिए।

(१२) मनुष्य को सदैव स्मरण में रखना चाहिए कि जब तक

उसके पास भौतिक शरीर है, तब तक उसे जन्म, मृत्यु, जरा, तथा व्याधि को भोगना पड़ेगा। देह के इन कष्टों से छुटकारा पाने के लिए योजनाएँ बनाने से कोई लाभ नहीं है। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि उस साधन की खोज की जाये, जिससे आध्यात्मिक स्वरूप पुनः प्राप्त हो सके।

(१३) मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के लिए जीवन की जितनी आवश्यकताएँ हैं, उनसे अधिक के प्रति आसक्त नहीं होना चाहिए।

(१४) मनुष्य को स्त्री, सन्तान तथा घर के प्रति शास्त्रों की आज्ञा से अधिक आसक्त नहीं होना चाहिए।

(१५) मनुष्य को मन द्वारा उत्पन्न इष्ट या अनिष्ट की भावनाओं से सुखी या दुखी नहीं होना चाहिए।

(१६) मनुष्य को भगवान् श्रीकृष्ण का अनन्य भक्त बनना चाहिए तथा पूर्ण मनोयोग से उनकी सेवा करनी चाहिए।

(१७) मनुष्य को शान्त वातावरण में किसी ऐसे निर्जन स्थान में रहने की रुचि उत्पन्न करनी चाहिए, जो आध्यात्मिक अभ्यास के लिए अनुकूल हो और जहाँ अभक्तों का प्राधान्य हो, उन स्थानों से उसे बचना चाहिए।

(१८) मनुष्य को वैज्ञानिक या दार्शनिक बनना चाहिए और आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में शोध करनी चाहिए और यह मानना चाहिए कि आध्यात्मिक ज्ञान स्थायी है, जबकि भौतिक ज्ञान शरीर की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है।

ये अठारह बातें मिलकर एक क्रमिक प्रक्रिया का निर्माण करती हैं, जिसके द्वारा असली ज्ञान विकसित किया जा सकता है। लेकिन

इससे भिन्न अन्य सारी विधियाँ अविद्या की कोटि में मानी जाती हैं। महान् आचार्य श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के मतानुसार भौतिक ज्ञान के सारे भेद माया के बाह्य स्वरूप मात्र हैं और इनके विकास से कोई भी व्यक्ति एक गधे से बेहतर नहीं बन पाता। यही सिद्धान्त यहाँ *श्रीईशोपनिषद्* में भी पाया जाता है। भौतिक ज्ञान की प्रगति से आधुनिक आदमी केवल गधा बनता जा रहा है। कतिपय भौतिकतावादी राजनीतिज्ञ अध्यात्म के बहाने सभ्यता की वर्तमान पद्धति को आसुरी बताकर उसकी निन्दा करते हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश वे वास्तविक ज्ञान के अनुशीलन के विषय में परवाह नहीं करते, जैसाकि *भगवद्गीता* में वर्णन किया गया है। इस प्रकार वे आसुरी परिस्थिति को नहीं बदल सकते।

आधुनिक समाज में एक बालक भी अपने आपको आत्मनिर्भर समझता है और अपने गुरुजनों का सम्मान नहीं करता। हमारे विश्वविद्यालयों में त्रुटिपूर्ण शिक्षा प्रदान किये जाने से विश्वभर के लड़के गुरुजनों के लिए सिरदर्द बने हुए हैं। इस प्रकार *श्रीईशोपनिषद्* दृढ़-भाव से चेतावनी देती है कि अविद्या की संस्कृति विद्या (ज्ञान) से भिन्न है। यह कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालय अविद्या के ही केन्द्र हैं; फलस्वरूप विज्ञानीजन अन्य देशों का नामोनिशान मिटा देने के लिए घातक अस्त्र शस्त्रों की खोज करने में व्यस्त हैं। आज विश्वविद्यालय के छात्रों को न तो ब्रह्मचर्य के नियमों की शिक्षा दी जाती है, न ही शास्त्रीय आदेशों में उनकी श्रद्धा रह गई है। धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा केवल नाम तथा यश के लिए दी जाती है, व्यवहार में लाने के लिए नहीं। इस प्रकार न केवल सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में, अपितु धर्म के क्षेत्र में

भी मनोमालिन्य व्याप्त है।

जनसामान्य द्वारा अविद्या के अनुशीलन के फलस्वरूप संसार के विभिन्न भागों में राष्ट्रीयता का विकास हुआ है। कोई भी यह नहीं सोचता कि यह छोटी सी पृथ्वी पदार्थों का एक पिंड मात्र है, जो अन्य अनेक पिंडों के साथ-साथ असीम अन्तरिक्ष में तैर रहा है। अन्तरिक्ष की व्यापकता की तुलना में ये भौतिक पिंड वायु में धूलकणों के समान हैं। चूँकि ईश्वर ने कृपापूर्वक इन पदार्थ-पिण्डों को अपने आप में पूर्ण बनाया है, अतः वे अन्तरिक्ष में तैरते रहने के लिए समस्त आवश्यकताओं से पूरी तरह से सुसज्ज हैं। हमारे अन्तरिक्षयानों के चालक अपनी उपलब्धियों पर भले ही अत्यन्त गर्वित हों, लेकिन वे ग्रह कहलाने वाले इन विशाल, अत्यधिक विराट् अन्तरिक्षयानों के परम चालक के विषय में विचार नहीं करते।

सूर्य असंख्य हैं और ग्रह मण्डल भी असंख्य हैं। परमेश्वर के सूक्ष्मतम अंश के रूप में हम क्षुद्र प्राणी इन असीम लोकों पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं। इस प्रकार हम बारम्बार जन्म लेते हैं और मरते हैं और सामान्यतया हम बुढ़ापे तथा रोग से हताश हो जाते हैं। मनुष्य की आयु लगभग सौ वर्ष निर्धारित है, यद्यपि यह धीरे-धीरे घट कर बीस-तीस वर्ष तक पहुँच रही है। भला हो अविद्या की संस्कृति का, मूर्ख लोगों ने इन लोकों के भीतर अपने-अपने राष्ट्र बना रखे हैं, ताकि वे इन कुछ वर्षों तक अधिक प्रभावी ढंग से इन्द्रियभोग कर सकें। ऐसे मूर्ख लोग अच्छी तरह राष्ट्रीय हदबन्दी तैयार करने की विविध योजनाएँ बनाते हैं, जो कार्य पूर्ण-रूपेण असम्भव है। । इसके चलते प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के लिए

सरदर्द बना हुआ है। किसी भी राष्ट्र की पचास प्रतिशत से अधिक शक्ति सुरक्षा साधनों में लगी होने के कारण व्यर्थ चली जाती है। वास्तविक ज्ञान के अनुशीलन की कोई परवाह नहीं करता। फिर भी लोगों को भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति करने का झूठा गर्व है।

श्रीईशोपनिषद् इस प्रकार की दोषपूर्ण शिक्षा से हमें सचेत करती है और *भगवद्गीता* असली ज्ञान के विकास हेतु उपदेश देती है। इस मंत्र में इस बात का संकेत किया गया है कि विद्या का उपदेश किसी धीर व्यक्ति से लेना चाहिए। धीर वह है, जो भौतिक मोह से विचलित नहीं होता। पूर्णरूपेण आध्यात्मिक साक्षात्कार किए बिना कोई भी व्यक्ति अविचल नहीं रह सकता। साक्षात्कार होने पर वह न तो किसी वस्तु के लिए आकाँक्षा करता है, न शोक ही करता है। धीर व्यक्ति समझ जाता है कि भौतिक सम्पर्क से भाग्यवश उसने जो भौतिक देह तथा मन प्राप्त किए हैं, वे सब बाहरी तत्त्व हैं; अतएव वह मात्र इस बुरे सौदे का अच्छा उपयोग करता है।

आध्यात्मिक जीवात्मा के लिए भौतिक शरीर तथा मन बुरे सौदे हैं। जीव का वास्तविक कार्य तो चेतन आध्यात्मिक जगत में है, किन्तु यह भौतिक जगत मृत (जड़) है। जब तक सजीव आध्यात्मिक स्फुलिंग पदार्थ के निर्जीव पिंडों को अपने अनुरूप ढालते रहते हैं, तब तक यह जड़ जगत सजीव (चेतन) जान पड़ता है। वास्तव में परम पुरुष के अंशरूप जीवात्मा ही जगत को गतिमान बनाते हैं। धीर व्यक्तियों ने श्रेष्ठ आचार्यों से सुनकर इन तथ्यों को जान लिया है और नियमों का पालन करके इस ज्ञान को

आत्मसात् कर लिया है।

विधि-विधानों के पालन के लिए मनुष्य को प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए। दिव्य संदेश तथा विधि-विधान शिष्य को गुरु से प्राप्त होते हैं। ऐसा ज्ञान अविद्यामयी शिक्षा के संकटपूर्ण मार्ग से नहीं आता। भगवान् के सन्देशों को प्रामाणिक गुरु से विनीत भाव से सुनकर ही कोई धीर बन सकता है। उदाहरणार्थ भगवान् कृष्ण से विनीत भाव से सुनकर ही अर्जुन धीर बना। इस प्रकार आदर्श शिष्य को अर्जुन की तरह होना चाहिए और गुरु को साक्षात् भगवान् के समान होना चाहिए। यही है धीर से विद्या सीखने की विधि।

अधीर (जिसने धीर का प्रशिक्षण नहीं लिया) कभी शिक्षा देने वाला अगुवा नहीं बन सकता। आधुनिक राजनीतिज्ञ, जो अपने को धीर दिखाने का स्वाँग भरते हैं, वास्तव में अधीर हैं और उनसे पूर्ण ज्ञान की आशा नहीं की जा सकती। वे तो केवल रुपये-पैसों के रूप में अपना पारिश्रमिक तय करने में ही व्यस्त रहते हैं। तो ऐसे लोग जनता को आत्म-साक्षात्कार के सही पथ तक किस प्रकार ले जा सकते हैं? अतएव वास्तविक शिक्षा प्राप्त करने के लिए मनुष्य को धीर के मुख से विनीत भाव से सुनना चाहिए। •

मंत्र ग्यारह

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयः सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ ११॥

विद्याम्—असली ज्ञान को; **च**—और; **अविद्याम्**—अविद्या को; **च**—तथा; **यः**—जो व्यक्ति; **तत्**—वह; **वेद**—जानता है; **उभयम्**—दोनों; **सह**—एक ही समय; **अविद्यया**—अज्ञान के सेवन से; **मृत्युम्**—बारम्बार आने वाली मृत्यु को; **तीर्त्वा**—पार करके; **विद्यया**—ज्ञान से; **अमृतम्**—अमरता; **अश्नुते**—भोगता है।

अनुवाद

जो अविद्या की कार्यप्रक्रिया तथा दिव्य ज्ञान (विद्या) को साथ-साथ सीख सकता है, केवल वही बारम्बार होने वाले जन्म-मृत्यु के प्रभाव को पार कर सकता है और अमरता के पूर्ण वरदान को भोग सकता है।

तात्पर्य

भौतिक जगत की सृष्टि के समय से ही प्रत्येक जीव स्थायी जीवन प्राप्त करने का प्रयास करता रहा है, लेकिन प्रकृति के नियम इतने क्रूर हैं कि कोई भी मृत्यु से बच नहीं सका है। कोई मरना नहीं चाहता, न ही कोई बूढ़ा बीमार होना चाहता है। किन्तु प्रकृति का नियम किसी को मृत्यु, बुढ़ापे या रोग से छूट प्रदान नहीं करता। न ही भौतिक ज्ञान की प्रगति ने इन समस्याओं को हल किया है।

भले ही भौतिक विज्ञान मृत्यु की प्रक्रिया को त्वरित करने के लिए परमाणु बम खोज निकाले, लेकिन वह रोग, बुढ़ापे तथा मृत्यु के क्रूर हाथों से मनुष्य की रक्षा करने के लिए कुछ भी नहीं खोज सकता।

पुराणों से हम हिरण्यकशिपु के कार्यकलापों के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं, जो भौतिक दृष्टि से अत्यन्त समुन्नत राजा था। अपनी भौतिक उपलब्धियों तथा अपनी अविद्या की शक्ति के बल पर क्रूर मृत्यु को जीतने की इच्छा से उसने एक प्रकार के ध्यानयोग को सम्पन्न किया, जो इतना कठिन था कि उसकी योगशक्ति से सारे लोकों के निवासी विचलित हो उठे। उसने ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी को अपने पास नीचे उतरने के लिए बाध्य कर दिया। तब उसने ब्रह्मा से अमर होने का वरदान माँगा, जिससे कोई कभी नहीं मरता। ब्रह्माजी ने कहा कि वे उसे यह वरदान नहीं दे सकते, क्योंकि यद्यपि वे स्वयं स्रष्टा हैं और समस्त लोकों पर शासन करने वाले हैं, किन्तु वे स्वयं भी अमर न हीं हैं। जैसे कि *भगवद्गीता* (८.१७) से पुष्टि होती है, ब्रह्माजी दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अमर हैं।

हिरण्य का अर्थ है सोना तथा *कशिपु* का अर्थ है मुलायम बिस्तर। ये धूर्त महाशय हिरण्यकशिपु धन तथा स्त्री इन्हीं दो वस्तुओं में रुचि रखते थे और अमर होकर इन्हीं का भोग करना चाहते थे। उसने अमर होने की अप्रत्यक्ष रूप से इच्छापूर्ति की आशा में ब्रह्माजी से कई वरदान माँगे। चूँकि ब्रह्माजी ने उससे कह दिया कि वे उसे अमरता का वरदान नहीं दे सकते, अतएव हिरण्यकशिपु ने उनसे प्रार्थना की कि मैं किसी मनुष्य, पशु, देवता

या ८४,००,००० योनियों के अन्तर्गत किसी जीव के द्वारा न मारा जाऊँ। उसने यह भी प्रार्थना की कि मैं न तो पृथ्वी पर, न जल में, न ही किसी हथियार से मरूँ। इस तरह मूर्खतावश हिरण्यकशिपु ने सोचा कि इन आश्वासनों से वह मृत्यु से बच जाएगा। किन्तु ब्रह्मा द्वारा ये सारे वरदान दिए जाने पर भी अन्ततोगत्वा भगवान् ने नृसिंह (अर्ध-मानव, अर्ध-सिंह) के रूप में उसका वध कर दिया। उन्होंने उसे मारने के लिए किसी हथियार का उपयोग नहीं किया; केवल अपने नाखूनों से उसे मार डाला। उसकी मृत्यु न तो पृथ्वी पर हुई, न वायु में, न जल में क्योंकि वह ऐसे अद्भुत पुरुष नृसिंह भगवान् की गोद में मारा गया, जो उसकी कल्पना के परे थे।

कुल मिलाकर इसका सार यही है कि हिरण्यकशिपु जैसा अत्यन्त शक्तिशाली भौतिकतावादी भी अपनी विविध योजनाओं से मृत्युरहित नहीं बन सका। तो फिर आज के क्षुद्र हिरण्यकशिपु भला क्या कर सकते हैं, जिनकी योजनाओं का प्रतिक्षण गला घुटता रहता है?

श्रीईशोपनिषद् जीवनसंघर्ष को जीतने के लिए एकांगी प्रयास न करने की शिक्षा देता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व को टिकाए रखने के लिए कठोर संघर्ष कर रहा है, लेकिन प्रकृति के नियम इतने कड़े और सटीक हैं कि वे किसी को उनका उल्लंघन नहीं करने देते। स्थायी जीवन प्राप्त करने के लिए मनुष्य को भगवद्धाम वापस जाने के लिए तैयार रहना चाहिए।

जिस विधि से भगवान् के पास वापस जाया जाता है, वह ज्ञान की एक अलग शाखा है और इसे उपनिषदों, वेदान्तसूत्र, *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत* जैसे वैदिक शास्त्रों से सीखना पड़ता है।

इस जीवन में सुखी रहने तथा इस भौतिक शरीर को त्यागने के बाद स्थायी आनन्दमय जीवन प्राप्त करने के लिए मनुष्य को यह पवित्र साहित्य पढ़ना चाहिए और दिव्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बद्धजीव ईश्वर के साथ अपने नित्य-सम्बन्ध को भूल चुका है और उसने गलती से अपने अस्थायी जन्मस्थान को ही सर्वस्व मान लिया है। भगवान् ने कृपा करके भारत में उपर्युक्त शास्त्र तथा अन्य देशों में अन्य शास्त्र प्रदान किए हैं, जिससे भुलक्कड़ मानव को स्मरण दिलाया जा सके कि उसका घर इस भौतिक जगत में नहीं है। जीव एक आध्यात्मिक अस्तित्व है और वह अपने आध्यात्मिक घर को वापस लौटकर ही सुखी हो सकता है।

भगवान् अपने प्रामाणिक सेवकों को अपने धाम से अपने इस सन्देश का प्रसार करने के लिए भेजते हैं, जिससे मनुष्य भगवान् के धाम लौट सके और कभी-कभी तो भगवान् यह कार्य करने के लिए स्वयं आते हैं। चूँकि सारे जीव उनकी प्रिय संतान हैं, उनके अंश हैं, अतएव इस भौतिक अवस्था में हमें लगातार मिलने वाले कष्टों को देखकर हमारी अपेक्षा ईश्वर अधिक दुखी होते हैं। इस भौतिक जगत के कष्ट हमें अप्रत्यक्ष रूप से जड़ पदार्थ से हमारी असंगतता की याद दिलाते रहते हैं। बुद्धिमान जीव सामान्यतया इन चेतावनियों पर ध्यान देकर विद्या या दिव्य ज्ञान के सेवन में लग जाते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान के सेवन के लिए मनुष्य जीवन सर्वश्रेष्ठ अवसर है और जो मनुष्य इस सुअवसर का लाभ नहीं उठाता, वह नराधम कहलाता है।

इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक ज्ञान की प्रगति अर्थात् अविद्या का मार्ग बारम्बार होने वाले जन्म तथा मृत्यु का मार्ग है। आध्यात्मिक

अस्तित्व में जीव की जन्म या मृत्यु नहीं होती। जन्म तथा मृत्यु तो आत्मा के बाहरी आवरण अर्थात् शरीर पर लागू होते हैं। मृत्यु तो बाहरी वस्त्रों के उतारने के समान है और जन्म बाहरी वस्त्रों को धारण करने के समान है। मूर्ख मनुष्य, जो अविद्या के सेवन में बुरी तरह से लीन रहते हैं, वे इस क्रूर विधि की चिन्ता नहीं करते। भ्रामक शक्ति के सौन्दर्य से मोहित होकर वे बारम्बार उन्हीं कष्टों का शिकार होते रहते हैं और प्रकृति के नियमों से कोई शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाते।

अतः विद्या अर्थात् दिव्य ज्ञान का अनुशीलन मनुष्य के लिए अनिवार्य है। रुग्ण भौतिक दशा में इन्द्रियभोग को जहाँ तक सम्भव हो, नियंत्रित रखना चाहिए। इस शारीरिक अवस्था में अबाध इन्द्रियतृप्ति अज्ञान तथा मृत्यु का मार्ग है। जीव आध्यात्मिक इन्द्रियों से विहीन नहीं हैं; प्रत्येक जीव अपने मूल आध्यात्मिक रूप में इन समस्त इन्द्रियों से युक्त होता है, जो भौतिक शरीर तथा मन से आच्छादित होने के कारण अब भौतिक रूप से व्यक्त हुई हैं। भौतिक इन्द्रियों के कार्यकलाप मौलिक आध्यात्मिक इन्द्रियों के कार्यों के विकृत प्रतिबिम्ब हैं। आत्मा अपनी रुग्ण दशा में भौतिक आवरण के भीतर भौतिक कार्य में लगा रहता है। असली इन्द्रियभोग तभी सम्भव है, जब भौतिकतावाद का रोग दूर हो जाता है। हमारे शुद्ध आध्यात्मिक रूप में, जो समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त है, इन्द्रियों का शुद्ध आनन्द भोग पाना सम्भव है। एक रोगी के लिए यह आवश्यक है कि वह इन्द्रियों का आनन्द फिर से उठा सके, उसके पहले अपना स्वास्थ्य पुनः प्राप्त कर ले। अतः मनुष्य जीवन का उद्देश्य विकृत इन्द्रियभोग करना नहीं है, किन्तु भौतिक

रोग को ठीक करना है। भौतिक रोग को बढ़ाना ज्ञान का संकेत नहीं है, अपितु अविद्या या अज्ञान का सूचक है। अच्छे स्वास्थ्य के लिए मनुष्य को अपने शरीर का ताप १०५ से १०७ अंश (डिग्री) तक नहीं बढ़ाना चाहिए, अपितु यह ताप ९८.६ अंश की सामान्य अवस्था तक रखना चाहिए। मनुष्य जीवन का यही लक्ष्य होना चाहिए। भौतिक सभ्यता की आधुनिक प्रवृत्ति ज्वरग्रस्त भौतिक दशा के ताप को बढ़ाना है, जो परमाणु शक्ति के रूप में १०७ अंश तक पहुँचा हुआ है। इसी बीच मूर्ख राजनीतिज्ञ चिल्ला रहे हैं कि यह संसार किसी भी समय नरक को जा सकता है। यह भौतिक ज्ञान की प्रगति तथा जीवन के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हिस्से अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन की उपेक्षा का परिणाम है। *श्रीईशोपनिषद्* यहाँ पर सचेत करता है कि हमें इस घातक पथ पर नहीं चलना चाहिए, जो हमें मृत्यु की ओर ले जाता है। इसके विपरीत, हमें आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन का विकास करना चाहिए, जिससे हम मृत्यु के क्रूर हाथों से पूर्णतया मुक्त हो सकें।

इसका अर्थ यह भी नहीं है कि शरीर के पालन हेतु आवश्यक सारे कार्यों को रोक दिया जाये। कार्यकलापों को रोकने का प्रश्न ही नहीं उठता, जिस प्रकार कि रोग ठीक करने के प्रयत्न का अर्थ यह नहीं होता कि अपने ताप को पूर्णतया मिटा दिया जाये। "बुरे सौदे का सर्वोत्तम उपयोग करना," सही कथन है। आध्यात्मिक ज्ञान के विकास के लिए इस शरीर तथा मन की सहायता की आवश्यकता होती है, अतः अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए शरीर और मन को बनाए रखना आवश्यक है। सामान्य ताप को ९८.६ अंश पर रखना चाहिए। भारत के साधु-सन्तों ने इसे आध्यात्मिक

तथा भौतिक ज्ञान के संतुलित कार्यक्रम द्वारा सम्पन्न करने का प्रयास किया है। वे किसी भी रुग्ण इन्द्रियतृप्ति के लिए मानवीय बुद्धि के दुरुपयोग की अनुमति नहीं देते।

इन्द्रियतृप्ति की ओर उन्मुख प्रवृत्ति के द्वारा किये जा रहे रुग्ण मानवीय कार्यकलापों का नियमन वेदों में मोक्ष के सिद्धान्तों के अन्तर्गत किया गया है। इस पद्धति में धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष का उपयोग होता है, लेकिन आज के समय लोगों में धर्म या मोक्ष के प्रति बिल्कुल रुचि नहीं है। जीवन में उनका एक ही लक्ष्य है—इन्द्रियतृप्ति—और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे आर्थिक विकास की योजना बनाते हैं। पथभ्रष्ट लोग सोचते हैं कि धर्म को बनाए रखना चाहिए, क्योंकि आर्थिक विकास में इसका योगदान है, जिसकी आवश्यकता इन्द्रियतृप्ति में पड़ती है। इस प्रकार मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में भी इन्द्रियतृप्ति को सुनिश्चित बनाये रखने के लिए कोई न कोई धार्मिक कर्मकांड पद्धति रहती है, किन्तु धर्म का प्रयोजन यह नहीं है। धर्म का मार्ग वास्तव में आत्म-साक्षात्कार पाने के लिए है और आर्थिक विकास केवल शरीर को सुचारु एवं स्वस्थ बनाए रखने के लिए है। मनुष्य को विद्या या वास्तविक ज्ञान की अनुभूति के लिए स्वस्थ मन से स्वस्थ जीवन बिताना चाहिए, क्योंकि यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। यह जीवन गधे की तरह काम में जुटे रहने या इन्द्रियतृप्ति के लिए अविद्या का अनुशीलन करने के लिए नहीं मिला है।

विद्या का मार्ग अत्यन्त सुंदरता से *श्रीमद्भागवत* में प्रस्तुत किया गया है, जो मनुष्य को परम सत्य की खोज में अपने जीवन का सदुपयोग करने का आदेश देता है। परम सत्य का साक्षात्कार

क्रमशः 'ब्रह्म', 'परमात्मा' तथा अन्त में 'भगवान्' अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के रूप में होता है। परम सत्य की अनुभूति ऐसे विशाल-हृदय वाली व्यक्ति को होती है, जिसने उपयुक्त दसवें मंत्र के तात्पर्य में वर्णित *भगवद्गीता* के अठारह सिद्धान्तों का पालन करते हुए ज्ञान तथा वैराग्य को प्राप्त कर लिया है। इन अठारहों सिद्धान्तों का मुख्य लक्ष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की दिव्य भक्तिमयी सेवा प्राप्त करना है। अतएव सभी वर्गों के व्यक्तियों को भगवान् की भक्तिमय सेवा की कला सीखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

विद्या के लक्ष्य का निश्चित मार्ग श्रील रूप गोस्वामी द्वारा अपनी पुस्तक भक्तिरसामृतसिन्धु में वर्णित है, जिसे हमने अंग्रेजी में *द नेक्टर ऑफ डिवोशन* के शीर्षक से प्रकाशित किया है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.१४) में विद्या के अनुशीलन को निम्नलिखित शब्दों में संक्षिप्त रूप में दिया गया है।

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥

"अतएव मनुष्य को एकाग्र मन से उन पुरुषोत्तम भगवान् का निरन्तर श्रवण, यशोगान, स्मरण तथा पूजन करना चाहिए, जो भक्तों के रक्षक हैं।"

जब तक धर्म, अर्थ तथा काम का लक्ष्य भगवद्भक्ति की प्राप्ति नहीं होता, तब तक वे अविद्या के ही विभिन्न रूप होते हैं, जैसाकि *श्रीईशोपनिषद्* के अगले मंत्रों से सूचित होता है। •

मंत्र बारह

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याः रताः ॥ १२ ॥

अन्धम्—अज्ञान; **तमः**—अंधकार; **प्रविशन्ति**—प्रवेश करते हैं; **ये**—जो; **असम्भूतिम्**—देवताओं की; **उपासते**—पूजा करते हैं; **ततः**—उसकी अपेक्षा; **भूयः**—और अधिक; **इव**—उसके सदृश; **ते**—वे; **तमः**—अंधकार में; **ये**—जो; **उ**—भी; **सम्भूत्याम्**—ब्रह्म में; **रताः**—लगे हुए।

अनुवाद

जो लोग देवताओं की पूजा में लगे हैं, वे अज्ञान के गहनतम क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और इनसे भी बढ़कर वे है, जो निराकार ब्रह्म के पूजक हैं।

तात्पर्य

संस्कृत का शब्द *असम्भूति* उन व्यक्तियों का सूचक है, जिनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। *सम्भूति* तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जो पूर्णतया स्वतंत्र हैं। *भगवद्गीता* (१०.२) में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

"न तो देवगण, न ही महर्षिजन मेरी उत्पत्ति अथवा विभूतियों को

जानते हैं, क्योंकि मैं देवताओं और मुनियों का सभी प्रकार से उद्गम हूँ।" इस प्रकार कृष्ण उन शक्तियों के मूल हैं, जो देवताओं, महर्षियों तथा योगियों को प्रदान की गई हैं। यद्यपि उन्हें महान् शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, तथापि ये शक्तियाँ सीमित हैं; अतः उनके लिए यह समझ पाना कठिन है कि कृष्ण किस प्रकार अपनी अन्तरंगा शक्ति से मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं।

अनेक दार्शनिक तथा बड़े-बड़े ऋषि या योगी अपनी अल्पबुद्धि से परम को सापेक्ष से विभेदित करने का प्रयत्न करते हैं। इससे उन्हें परम निरपेक्ष का कोई निश्चित सकारात्मक चिह्न तो मिलता नहीं, मात्र सापेक्षता से परम के नकारात्मक विचार तक पहुँचने में सहायता मिल सकती है। नकारात्मक बोध के द्वारा परम की परिभाषा पूर्ण नहीं हो सकती। ऐसी निषेधात्मक परिभाषाओं से मनुष्य तो अपनी खुद की धारणा को उत्पन्न करने के लिए बल मिलता है और इस तरह मनुष्य कल्पना करता है कि परम ब्रह्म अवश्य ही रूपविहीन (निराकार) तथा गुणरहित (निर्गुण) होंगे। ऐसे निषेधात्मक गुण सापेक्ष भौतिक गुणों के सर्वथा विलोम हैं अतएव वे भी सापेक्ष हैं। परम का इस प्रकार विचार करने पर कोई अधिक से अधिक, ईश्वर के निर्विशेष तेज तक पहुँच सकता है, जिसे 'ब्रह्म' कहते हैं, लेकिन वह भगवान् के व्यक्तित्व अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तक नहीं पहुँच सकता।

ऐसे मानसिक तर्कवादी यह नहीं जानते कि श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और 'निर्विशेष ब्रह्म' उनके दिव्य शरीर का देदीप्यमान तेज है तथा 'परमात्मा' उनकी पूर्ण सर्वव्यापी अभिव्यक्ति है। न ही वे यह जानते हैं कि कृष्ण को अपना शाश्वत

रूप है, जो शाश्वत आनन्द तथा ज्ञान के दिव्य गुणों से युक्त है। आश्रित देवता तथा महर्षि उन्हें गलती से एक शक्तिशाली देवता के रूप में मानते हैं और ब्रह्मज्योति को परम सत्य मानते हैं; किन्तु कृष्ण के भक्त अपनी अनन्य भक्तिवश और उनकी शरण में जाने के कारण जान सकते हैं कि कृष्ण परम पुरुष हैं और हर वस्तु उन्हीं से उद्भूत होती है। ऐसे भक्त प्रत्येक वस्तु के उद्गम कृष्ण की निरन्तर प्रेममयी सेवा करते हैं।

भगवद्गीता (७.२०,२३) में कहा गया है कि केवल बुद्धिहीन, मोहग्रस्त मनुष्य जो इन्द्रियतृप्ति की प्रबल इच्छा से प्रभावित हैं, वे ही क्षणिक समस्याओं से अस्थायी राहत के लिए देवताओं की पूजा करते हैं। चूँकि मनुष्य संसार से भौतिक रूप से बँधा है, अतएव उसे भौतिक बन्धन से पूर्णतया मुक्त होना है, जिससे वह आध्यात्मिक धरातल पर स्थायी राहत प्राप्त कर सके, जहाँ शाश्वत आनन्द, जीवन तथा ज्ञान का अस्तित्व है। अत: *श्रीईशोपनिषद्* यह उपदेश देती है कि हमें परतंत्र देवताओं की पूजा करके अपनी समस्याओं की क्षणिक राहत लेने का प्रयास नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे मात्र अस्थायी लाभ ही दे सकते हैं। प्रत्युत हमें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की पूजा करनी चाहिए, जो सर्वाकर्षक हैं और जो हमें भगवद्धाम वापस ले जाकर भौतिक बन्धन से पूर्ण मुक्ति दे सकते हैं।

भगवद्गीता (७.२३) में यह कहा गया है कि देवताओं की पूजा करने वाले देवलोक को जा सकते हैं। चन्द्रमा की पूजा करने वाले चन्द्रलोक को जा सकते हैं, सूर्य के पूजक सूर्यलोक को जा सकते हैं, इत्यादि। आधुनिक विज्ञानीजन अब राकेटों की सहायता

से चन्द्रमा तक पहुँचने का साहस कर रहे हैं, लेकिन यह कोई नया प्रयास नहीं है। मनुष्य अपनी उन्नत चेतना से स्वभावत: बाह्य अन्तरिक्ष में यात्रा करने और अन्य ग्रहों में पहुँचने की प्रवृत्ति रखता है—चाहे यह अन्तरिक्षयानों के द्वारा हो, योगशक्ति से हो या देवपूजा के द्वारा हो। वैदिक शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य इन तीनों साधनों में से किसी एक के द्वारा अन्य ग्रहों तक पहुँच सकता है, लेकिन सर्वसामान्य विधि उस देव की पूजा करना है, जो उस ग्रह विशेष का अधिष्ठाता देव हो। इस प्रकार मनुष्य चन्द्रलोक, सूर्यलोक या ब्रह्मलोक तक भी, जो इस ब्रह्माण्ड में सब से उच्च लोक है, पहुँच सकता है। किन्तु इस भौतिक ब्रह्माण्ड में सारे ग्रह क्षणभंगुर निवास-स्थल हैं; एकमात्र स्थायी लोक वैकुण्ठ लोक हैं और ये आध्यात्मिक आकाश में स्थित हैं और भगवान् स्वयं इन लोकों के अधिष्ठाता हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् कृष्ण द्वारा कहा गया है :

आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम लोक तक सारे के सारे लोक दुख के स्थान हैं, जहाँ बारम्बार जन्म तथा मृत्यु होती है। किन्तु हे कुन्तीपुत्र, जो व्यक्ति मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है, वह फिर से कभी जन्म नहीं लेता।"

श्रीईशोपनिषद् पुस्तक इंगित करती है कि जो मनुष्य देवताओं की पूजा करता है तथा उनके भौतिक ग्रहों को प्राप्त कर लेता है, वह भी ब्रह्माण्ड के सर्वाधिक अंधकारमय भाग में ही रह जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विशाल भौतिक तत्त्वों से ढका हुआ है, ठीक वैसे,

जैसे नारियल खपड़े से ढका है और उसका आधा भाग जल से भरा है। चूँकि इसका बाहरी आवरण वायुरुद्ध है, अत: इसके अन्दर घना अंधकार है। इसलिए इसे प्रकाशित करने के लिए सूर्य और चन्द्रमा की आवश्यकता रहती है। ब्रह्माण्ड के बाहर व्यापक तथा असीम ब्रह्मज्योति का प्रसार है, जो वैकुण्ठ ग्रहों से भरा पड़ा है। ब्रह्मज्योति में सबसे बड़ा तथा ऊँचा ग्रह कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन है, जहाँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं निवास करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कभी इस कृष्णलोक को छोड़ते नहीं। यद्यपि वे वहाँ अपने सनातन पार्षदों के साथ निवास करते हैं, तथापि वे सम्पूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक विराट सृष्टियों में सर्वव्यापी हैं। इसकी व्याख्या चौथे मंत्र में पहले ही की जा चुकी है। भगवान् उसी तरह सर्वत्र विद्यमान हैं, जिस तरह सूर्य है; फिर भी वे एक स्थान पर स्थित हैं, जिस तरह सूर्य अपनी अविचल कक्षा में स्थित रहता है।

जीवन की समस्याएँ मात्र चन्द्रमा पर या इसके ऊपर या नीचे के किसी दूसरे ग्रह पर जाने से हल होने वाली नहीं हैं। अत: *श्रीईशोपनिषद्* हमें सलाह देती है कि इस अंधकारमय भौतिक ब्रह्माण्ड में किसी भी गंतव्य की परवाह नहीं करनी चाहिए, किन्तु इससे बाहर निकलने और ईश्वर के ज्योतिर्मय साम्राज्य में पहुँचने का प्रयास करना चाहिए। ऐसे अनेक छद्म-पूजक हैं, जो केवल नाम तथा यश कमाने के उद्देश्य से धर्मध्वजी बनते हैं। ऐसे छद्म-धर्मध्वजी इस ब्रह्माण्ड से निकलकर वैकुण्ठलोक में नहीं जाना चाहते। वे ईश्वरपूजक के छद्मवेश में इस भौतिक जगत में अपनी स्थिति पूर्ववत् बनाए रखना चाहते हैं। नास्तिक तथा निर्विशेषवादी लोग ऐसे छद्म-धर्मध्वजियों को नास्तिकतावादी विचारधारा का

उपदेश देकर उन्हें गहनतम अंधकार में ढकेल देते हैं। नास्तिक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अस्तित्व को सीधे-सीधे नकारता है और निर्विशेषवादी परमेश्वर के निराकार पक्ष पर बल देकर ऐसे नास्तिकों के आधार देता है। अभी तक हमें *श्रीईशोपनिषद्* में कोई ऐसा मंत्र नहीं मिला, जिसमें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अस्तित्व को नकारा गया हो। यह कहा गया है कि वे किसी से भी अधिक तेज दौड़ सकते हैं। अन्य ग्रहों के पीछे दौड़ने वाले निश्चय ही साकार मनुष्य हैं और यदि भगवान् उन सबसे तेज दौड़ सकते हैं, तो फिर उन्हें किस तरह निराकार कहा जा सकता है? परमेश्वर की निराकार धारणा अज्ञान का दूसरा रूप है, जो परम सत्य की अपूर्ण धारणा से उत्पन्न होती है।

अज्ञानी छद्म-धर्मध्वजी एवं तथाकथित अवतारों का निर्माण करने वाले, जो वैदिक आदेशों का प्रत्यक्ष उल्लंघन करते हैं, वे ब्रह्माण्ड के सर्वाधिक अंधकारमय भाग में प्रवेश करने के लिए पात्र हैं, क्योंकि वे अपने अनुयायियों को पथभ्रष्ट करते हैं। ये निर्विशेषवादी सामान्यतया मूर्ख लोगों के मध्य अपने आपको ईश्वर का अवतार घोषित करते हैं, क्योंकि सामान्य लोगों को वैदिक वाङ्मय का कोई ज्ञान नहीं होता। यदि ऐसे मूर्ख निर्विशेषवादियों के हाथ तनिक भी ज्ञान लग जाता है, तो वह ज्ञान उनके हाथों में अज्ञान की अपेक्षा अधिक घातक होता है। ऐसे निर्विशेषवादी शास्त्रों द्वारा बताई गई विधि से देवताओं की भी पूजा नहीं करते। शास्त्रों में कतिपय परिस्थितियों के अन्तर्गत देवताओं की पूजा करने की संस्तुतियाँ हैं, लेकिन उसके साथ-साथ ये शास्त्र यह भी कहते हैं कि सामान्यतया ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

भगवद्गीता (७.२३) में स्पष्ट कहा गया है कि देवताओं की पूजा करने से जो फल प्राप्त होते हैं, वे स्थायी नहीं होते। चूँकि यह सारा भौतिक ब्रह्माण्ड ही स्थायी नहीं है, अतएव इस भौतिक अस्तित्व के अंधकार में जो कुछ भी उपलब्ध हो पाता है, वह भी नश्वर होता है। प्रश्न यह है कि वास्तविक तथा स्थायी जीवन किस तरह प्राप्त किया जाए?

भगवान् कहते हैं कि ज्योंही कोई भक्तिमय सेवा के द्वारा उन तक पहुँचता है—जो भगवान् तक पहुँचने का एकमात्र मार्ग है—त्योंही वह जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से पूर्ण मुक्ति पा लेता है। दूसरे शब्दों में, भवबन्धन से मोक्ष का मार्ग भगवद्भक्ति के द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा वैराग्य के सिद्धान्तों पर पूरी तरह निर्भर रहता है। इन छद्म-धर्मध्वजियों में न तो ज्ञान होता है, न भौतिक मामलों से विरक्ति, क्योंकि उनमें से अधिकांश लोग भवबन्धन की स्वर्णिम जंजीरों में बँधकर धार्मिक सिद्धान्तों के वेश में छुपे परोपकारी एवं कल्याणकारी कार्यकलापों की छाया के तले जीवित रहना चाहते हैं। धार्मिक भावनाओं के झूठे प्रदर्शन द्वारा वे भक्ति का दिखावा प्रस्तुत करते हैं जबकि वे सभी प्रकार के दुराचार में लिप्त रहते हैं। इस प्रकार वे गुरु तथा ईश्वर के भक्त के रूप में मान लिए जाते हैं। धर्म के नियमों का उल्लंघन करने वाले ऐसे लोग गुरु-शिष्य परम्परा में आने वाले प्रामाणिक आचार्यों के प्रति कोई सम्मान नहीं दिखाते। वे वैदिक आदेश *आचार्योपासना* (आचार्य की पूजा) तथा *भगवद्गीता* (४.२) में कृष्ण के कथन— *एवं परम्पराप्राप्तम्* अर्थात् भगवान् का यह सर्वोत्कृष्ट विज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ है—की भी अनदेखी करते हैं। वे सामान्य जनता को भ्रान्त

करने के लिए स्वयं तथाकथित आचार्य बन बैठते हैं, लेकिन वे आचार्यों के सिद्धान्तों का पालन तक नहीं करते।

ऐसे धूर्त मानव समाज के सबसे घातक तत्त्व हैं। चूँकि कोई धर्म-आधारित सरकार विद्यमान नहीं है, अतएव वे राज्य के नियमों द्वारा दण्ड पाने से बच जाते हैं। किन्तु वे परमेश्वर के नियम से नहीं बच सकते, जिन्होंने *भगवद्गीता* (१६.१९-२०) में घोषित किया है कि धर्मप्रचारकों के वेश में ईर्ष्यालु असुरों को नरक के गहनतम भाग में डाल दिया जाएगा। *श्रीईशोपनिषद्* पुष्टि करती है कि ये छद्म धर्मध्वजी केवल अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए चलाए जाने वाले गुरु के व्यापार के पूरा होने पर ब्रह्माण्ड के सबसे घृणित स्थान की ओर बढ़ जाएँगे। •

मंत्र तेरह

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥ १३॥

अन्यत्—भिन्न; **एव**—निश्चय ही; **आहुः**—कहा जाता है; **सम्भवात्**—समस्त कारणों के कारण परमेश्वर की पूजा द्वारा; **अन्यत्**—भिन्न; **आहुः**—कहा जाता है; **असम्भवात्**—जो परमेश्वर नहीं है, उसकी पूजा से; **इति**—इस प्रकार; **शुश्रुम**—मैंने यह सुना; **धीराणाम्**—धीर पुरुषों से; **ये**—जो; **नः**—हमको; **तत्**—उस विषयवस्तु के बारे में; **विचचक्षिरे**—पूर्णतया बताया गया।

अनुवाद

कहा जाता है कि समस्त कारणों के कारणस्वरूप परमेश्वर की पूजा करने से एक तरह का फल मिलता है और जो परम सत्य नहीं है, उसकी पूजा करने से दूसरी तरह का फल मिलता है। यह सब उन धीर पुरुषों से सुना गया है, जिन्होंने इसका स्पष्ट रूप से वर्णन किया है।

तात्पर्य

इस मंत्र से धीर पुरुषों से श्रवण करने की पद्धति प्रमाणित होती है। जब तक ऐसे प्रामाणिक आचार्य से श्रवण नहीं किया जाता, जो भौतिक जगत में होने वाले परिवर्तनों से तनिक भी विचलित नहीं होते, तब तक दिव्य ज्ञान की असली कुंजी प्राप्त नहीं हो पाती।

जिस भी प्रामाणिक गुरु ने अपने धीर आचार्य से श्रुति मंत्रों या वैदिक ज्ञान को सुना है, वह कभी भी कोई ऐसी बात प्रस्तुत नहीं करता, जो वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित न हो। *भगवद्गीता* (९.२५) में स्पष्ट कहा गया है कि जो पितरों की पूजा करते हैं, वे पितृलोक को प्राप्त करते हैं; वे निपट भौतिकतावादी जो यहीं बने रहने की योजना बनाते हैं, इसी लोक में रहते हैं और भगवद्भक्त, जो समस्त कारणों के परम कारण भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त किसी और की पूजा नहीं करते, आध्यात्मिक आकाश में भगवान् के धाम पहुँचते हैं। *श्रीईशोपनिषद्* में यहाँ पर भी पुष्टि की गई है कि विभिन्न प्रकार की पूजा से भिन्न प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। यदि हम परमेश्वर की पूजा करते हैं, तो हम अवश्य ही उनके सनातन धाम में उनके पास पहुँचेंगे, और यदि हम सूर्यदेव अथवा चन्द्रदेव जैसे देवताओं की पूजा करते हैं, तो हम निस्सन्देह, उनके लोकों में पहुँच जाएँगे। किन्तु यदि हम अपने योजना-आयोगों तथा अपनी कामचलाऊ राजनीतिक जोड़तोड़ से इसी मनहूस ग्रह में बने रहना चाहते हैं, तो निश्चित रूप से हम वह भी कर सकते हैं।

प्रामाणिक शास्त्रों में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि मनुष्य कुछ भी करके या किसी की भी पूजा करके अन्ततोगत्वा एक ही लक्ष्य पर पहुँचेगा। ऐसे मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त स्वतः-निर्मित गुरुओं द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनका परम्परा की प्रामाणिक पद्धति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। कोई भी प्रामाणिक गुरु यह नहीं कह सकता कि सारे मार्ग एक ही लक्ष्य को जाते हैं और कोई भी मनुष्य इस लक्ष्य को अपनी विधि से की गई देवताओं की या परमेश्वर की पूजा या किसी की भी पूजा से प्राप्त कर सकता है। किसी भी

सामान्य व्यक्ति के लिए यह समझना आसान है कि मनुष्य अपने गन्तव्य तक तभी पहुँच सकता है, जब उसने उसे गन्तव्य का टिकट खरीदा हो। जिस व्यक्ति ने कलकत्ता का टिकट खरीदा है, वह कलकत्ता पहुँच सकता है, मुम्बई नहीं। फिर भी, तथाकथित गुरु कहते हैं कि कोई भी पथ तथा सारे मार्ग किसी को परम गन्तव्य तक ले जा सकते हैं। ऐसे सांसारिक तथा समझौतावादी प्रस्ताव अनेक मूर्ख प्राणियों को आकर्षित करते हैं, जो उनके द्वारा निर्मित आध्यात्मिक साक्षात्कार की विधियों से गर्वित हो उठते हैं। लेकिन वैदिक आदेश उनका समर्थन नहीं करते। जब तक कोई प्रामाणिक गुरु से ज्ञान न प्राप्त करे, जो गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा मान्य श्रेणी में है, तब तक उसे असली वस्तु यथारूप में प्राप्त नहीं हो सकती। कृष्ण *भगवद्गीता* (४.२) में अर्जुन से कहते हैं :

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

"यह परम विज्ञान इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त हुआ था और राजर्षियों ने इसे इसी प्रकार से समझा। लेकिन कालान्तर में यह परम्परा टूट गई और अब यह विज्ञान अपने यथारूप में लुप्तप्राय हो गया प्रतीत होता है।"

जब भगवान् श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर उपस्थित थे, तो भक्तियोग के सिद्धान्त, जिनकी परिभाषा *भगवद्गीता* में दी गई है, विरूपित हो चुके थे। अतएव भगवान् को अर्जुन से प्रारम्भ करके यह परम्परा पुनः स्थापित करनी पड़ी, जो भगवान् का अत्यन्त विश्वासपात्र मित्र तथा भक्त था। भगवान् ने अर्जुन से स्पष्ट कह दिया था (*भगवद्गीता* ४.३) कि चूँकि अर्जुन उनका भक्त तथा मित्र था, अतः वह *भगवद्गीता* के सिद्धान्तों को समझ सकता था। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति भगवान् का भक्त तथा मित्र है, केवल वही गीता को समझ सकता है। इसका अर्थ यह भी होता है कि जो कोई अर्जुन के पथ का अनुगमन करता है, वही *भगवद्गीता* को समझ सकता है।

वर्तमान समय में इस भव्य संवाद के अनेक व्याख्याकार तथा अनुवादक हैं, जो भगवान् कृष्ण अथवा अर्जुन की तनिक भी परवाह नहीं करते। ऐसे व्याख्याकार *भगवद्गीता* के श्लोकों की व्याख्या अपने खुद के ढंग से करते हैं और गीता के नाम पर सभी प्रकार के कूड़े-करकट की परिकल्पना सिद्ध करते हैं। ऐसे व्याख्याकार न तो श्रीकृष्ण में विश्वास करते हैं, न ही उनके सनातन धाम में। तो फिर वे *भगवद्गीता* की व्याख्या किस तरह कर सकते हैं?

कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि जिन लोगों की बुद्धि मारी गई है, वे ही तुच्छ फलों के लिए देवताओं की पूजा करते हैं (*भगवद्गीता* ७.२०,२३)। अन्ततोगत्वा कृष्ण उपदेश देते हैं कि मनुष्य पूजा के अन्य सारी पद्धतियों को त्यागकर मात्र उन्हीं की शरण ग्रहण करे (*भगवद्गीता* १८.६६)। जो लोग सारे पापकर्मों के फलों से शुद्ध हो चुके हैं, केवल वे ही भगवान् में अटूट श्रद्धा रख सकते हैं। अन्य लोग अपनी तुच्छ पूजाविधियों को लेकर भौतिक स्तर पर मँडराते रहेंगे और असली पथ से इस भ्रम के कारण विपथ हो जाएँगे कि सारे पथ एक ही लक्ष्य को ले जाते हैं।

श्री ईशोपनिषद के इस मंत्र में *सम्भवात्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है, "परम कारण की पूजा से।" भगवान्

कृष्ण आदि पुरुष हैं और जितनी वस्तुओं का अस्तित्व है, उन सब का उद्भव उन्हीं से हुआ है। *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् बताते हैं :

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

"मैं ही सभी आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का कारण हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझ से ही उद्भूत है। जो बुद्धिमान व्यक्ति इसे भलीभाँति जानते हैं, वे मेरी भक्तिमय सेवा में लग जाते हैं और हृदय से पूरी तरह मेरी पूजा करते हैं।"

यह है स्वयं परमेश्वर द्वारा दिया गया भगवान् का शुद्ध वर्णन। *सर्वस्य प्रभवः* शब्द बताते हैं कि कृष्ण ही ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव समेत सबके स्रष्टा हैं। चूँकि भौतिक जगत के ये तीन प्रमुख देवता भगवान् द्वारा उत्पन्न किए गए हैं, अतएव भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों में जो कुछ भी विद्यमान है, उसके स्रष्टा भगवान् हैं। अथर्ववेद (*गोपालतापनी उपनिषद्* १.२४) में भी इसी प्रकार कहा गया है, "ब्रह्मा के सृजन के पूर्व जो विद्यमान थे तथा जिन्होंने ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान प्रदान किया, वे भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।" इसी प्रकार *नारायण उपनिषद्* (१) बताती है, "तब परम पुरुष नारायण ने जीवों की उत्पत्ति करनी चाही। अतः नारायण से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। नारायण ने सारे प्रजापतियों को उत्पन्न किया। नारायण ने इन्द्र को उत्पन्न किया। नारायण ने आठों वसु बनाए। नारायण ने ग्यारह रुद्र को उत्पन्न किया। नारायण ने बारह आदित्यों की सृष्टि की।" चूँकि नारायण भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश हैं, अतएव नारायण तथा कृष्ण एक ही हैं। *नारायण उपनिषद्* (४) यह भी कहती है कि

"देवकी के पुत्र कृष्ण परम ईश्वर हैं।" नारायण को सर्वोपरि कारण के रूप में श्रीपाद शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है और पुष्टि की है, यद्यपि शंकराचार्य न तो वैष्णव थे, न ही सगुणवादी सम्प्रदाय के थे। *अथर्ववेद* (*महा उपनिषद्* १) का भी यह कथन है, "जब न ब्रह्मा, न शिव, न अग्नि, न जल, न तारे, न सूर्य, न ही चन्द्रमा थे, तब प्रारम्भ में केवल नारायण ही थे। भगवान् कभी अकेले नहीं रहते; वे इच्छानुसार सृष्टि कर लेते हैं।" कृष्ण ने *मोक्षधर्म* में स्वयं कहा है, "मैने प्रजापतियों तथा रुद्रों की सृष्टि की। उन्हें मेरा पूर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वे मेरी माया शक्ति द्वारा प्रच्छन्न हैं।" *वराह पुराण* में भी कहा गया है, "नारायण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उन्हीं से चतुर्मुख ब्रह्मा तथा रुद्र भी प्रकट हुए, जो बाद में सर्वज्ञ बन गए।"

इस प्रकार सारा वैदिक साहित्य इसकी पुष्टि करता है कि नारायण या कृष्ण ही समस्त कारणों के कारण हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में भी बताया गया है कि परमेश्वर तो श्रीकृष्ण, गोविन्द हैं, जो प्रत्येक जीव को आनन्द प्रदान करने वाले तथा समस्त कारणों के आदि कारण हैं। असली विद्वान पुरुष इसे महर्षियों तथा वेदों द्वारा दिए गए प्रमाण से जानते हैं। इस तरह विद्वान मनुष्य कृष्ण को सर्वेसर्वा मानकर उनकी पूजा करने का निर्णय लेते हैं। ऐसे लोग *बुध* या वास्तविक विद्वान कहलाते हैं, क्योंकि वे केवल कृष्ण की ही पूजा करते हैं।

यह दृढ़ निष्ठा कि कृष्ण सर्वेसर्वा हैं, तब स्थापित होती है, जब मनुष्य अविचल (धीर) आचार्य से श्रद्धापूर्वक तथा प्रेमपूर्वक दिव्य सन्देश का श्रवण करता है। जिस व्यक्ति की भगवान् कृष्ण में श्रद्धा

या उनके प्रति प्रेम नहीं है, उसे इस सरल सत्य के प्रति विश्वस्त नहीं किया जा सकता। *भगवद्गीता* (९.११) में अश्रद्धालुओं को मूढ़, मूर्ख या गधा कहा गया है। यह कहा गया है कि मूढ़ लोग पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का उपहास करते हैं, क्योंकि उन्हें धीर आचार्य से पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ रहता। जो व्यक्ति भौतिक शक्ति के भँवर द्वारा विचलित होता हो, वह आचार्य बनने के योग्य नहीं है।

भगवद्गीता सुनने के पूर्व अर्जुन अपने परिवार, समाज तथा जाति के प्रति स्नेह के कारण भौतिक भँवर द्वारा विचलित था। अतएव अर्जुन परोपकारी तथा विश्व का अहिंसक व्यक्ति बनना चाहता था। किन्तु जब वह परम पुरुष से *भगवद्गीता* का वैदिक ज्ञान सुनकर *बुध* (ज्ञानी) बन गया, तो उसने अपना निर्णय बदल दिया और वह भगवान् कृष्ण का उपासक बन गया, जिन्होंने स्वयं कुरुक्षेत्र युद्ध की योजना बनाई थी। अर्जुन ने अपने तथाकथित सम्बन्धियों से युद्ध करके भगवान् की पूजा की और इस प्रकार वह भगवान् का शुद्ध भक्त बन गया। ऐसी सिद्धियाँ तभी मिल सकती हैं, जब कोई असली कृष्ण को पूजे, किसी बनावटी कृष्ण को नहीं, जो *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में वर्णित कृष्ण सम्बन्धी विज्ञान की बारीकियों से अनजान मूर्खों द्वारा आविष्कृत हो।

वेदान्त-सूत्र के अनुसार *सम्भूत* जन्म तथा पालन का स्रोत होने के साथ-साथ ऐसा जलाशय रूपी स्रोत है, जो प्रलय के बाद भी बचा रहता है। (*जन्माद्यस्य यतः*) *श्रीमद्भागवत* जो वेदान्त-सूत्र पर, उसके रचयिता की ही स्वाभाविक टीका है, यह कहता है कि समस्त उद्भवों का स्रोत कोई जड़ पत्थर जैसा नहीं होता, अपितु

वे पूर्ण *अभिज्ञ* या पूर्णतया चेतन हैं। *भगवद्गीता* (७.२६) में आदि भगवान् श्रीकृष्ण भी यह कहते हैं कि वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के बारे में पूर्णतया जानते हैं, किन्तु शिव तथा ब्रह्मा जैसे देवता भी उन्हें पूरी तरह नहीं जानते। निश्चय ही अर्धशिक्षित तथाकथित गुरु, जो भवसागर के उतार-चढ़ाव से विक्षुब्ध रहते हैं, पूरी तरह से उन्हें नहीं जान सकते। वे मानव समाज को पूजा का लक्ष्य (आराध्य) मानकर कुछ समझौता करने का प्रयास करते हैं, लेकिन वे यह नहीं समझते कि ऐसी पूजा मात्र एक कल्पना है, क्योंकि जनता अपूर्ण है। इन तथाकथित गुरुओं का यह प्रयास वृक्ष की जड़ को न सींचकर पत्तियों पर पानी डालने के तुल्य है। वास्तविक विधि तो जड़ में पानी डालने की है, लेकिन ऐसे विक्षुब्ध नेता तो जड़ के बजाय पत्तियों से अधिक आकर्षित होते हैं। फलतः पत्तियों को निरन्तर सींचते रहने पर भी पोषण के अभाव में सब कुछ सूख जाता है।

श्रीईशोपनिषद् हमें जड़ को सींचने की शिक्षा देता है, जो समस्त अंकुरण का स्रोत है। शारीरिक सेवा करके मानव समाज की पूजा कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती और वह आत्मा की सेवा से कम महत्त्वपूर्ण है। आत्मा ही वह जड़ है, जो कर्म के नियम के अनुसार विभिन्न प्रकार के शरीरों को जन्म देता है। उपचार, सामाजिक सहायता तथा शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करके मनुष्यों की सेवा करने के साथ ही साथ कसाइघरों में दीन पशुओं के गले काटना जीव अर्थात् आत्मा की कोई सेवा नहीं है।

जीव निरन्तर विभिन्न प्रकार के शरीरों में जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु के भौतिक कष्ट भोगता रहता है। मानव जीवन ऐसा अवसर

है, जिसमें जीव तथा परमेश्वर के बीच खोए सम्बन्ध को पुनः स्थापित करके इस बन्धन से छूटा जा सकता है। भगवान् *सम्भूत* अर्थात् सर्वोपरि के प्रति शरणागति के सिद्धान्त की शिक्षा देने के लिए स्वयं आते हैं। मानवता की वास्तविक सेवा तो तब होती है, जब मनुष्य पूर्ण प्रेम तथा शक्ति सहित परमेश्वर की शरण ग्रहण करने तथा पूजा करने की शिक्षा देता है। इस मंत्र में *श्रीईशोपनिषद्* का यही उपदेश है।

अशान्ति के इस युग में परमेश्वर की पूजा करने की सरल विधि है—उनके महान् कार्यकलापों के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करना। किन्तु मानसिक तर्कवादी सोचते हैं कि भगवान् के कार्यकलाप काल्पनिक हैं; अतएव वे उन्हें सुनने से कतराते हैं और निर्दोष जनता का ध्यान मोड़ने के लिए निरर्थक वाग्जाल का आविष्कार करते हैं। भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों का श्रवण करने के बजाय ऐसे ढोंगी गुरु अपने अनुयायियों को *उनका* गुणगान करने के लिए फुसलाकर खुद का विज्ञापन कराते हैं। आधुनिक युग में ऐसे पाखंडियों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है और भगवान् के शुद्ध भक्तों के लिए यह समस्या बन गई है कि वे जनता को इन पाखंडियों तथा छद्म अवतारों के अपवित्र प्रचार से किस प्रकार बचाएँ।

उपनिषदें अप्रत्यक्ष रूप से हमारा ध्यान आदि भगवान् श्रीकृष्ण की ओर आकर्षित कराती हैं, लेकिन समस्त उपनिषदों की सार *भगवद्गीता* सीधे कृष्ण को लक्षित करती है। इसलिए श्रीकृष्ण जैसे हैं, उसी रूप में उन्हें *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* से सुनने से मनुष्य का मन क्रमशः समस्त प्रदूषित वस्तुओं से स्वच्छ हो जाता

है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७) का कथन है, "भगवान् के कार्यकलापों के श्रवण द्वारा भक्त भगवान् का ध्यान अपनी ओर खींचता है। इस प्रकार प्रत्येक के हृदय में वास करने वाले भगवान् भक्त को समुचित दिशा प्रदान करके उसकी सहायता करते हैं।" *भगवद्गीता* (१०.१०) भी इसी बात की पुष्टि करती है—*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।*

भगवान् के आन्तरिक निर्देश द्वारा भक्त के हृदय का वह सारा कल्मष दूर हो जाता है, जो रजो और तमो गुणों द्वारा उत्पन्न होता है। अभक्तगण रजो तथा तमो गुणों के वश में रहते हैं। जो रजोगुणी है, वह भौतिक लालसा से विरक्त नहीं हो सकता और जो तमोगुणी है, वह न तो यह जान सकता है कि वह क्या है, न यह कि भगवान् क्या हैं। अतएव रजोगुणी या तमोगुणी के लिए आत्म-साक्षात्कार की कोई सम्भावना नहीं रहती, चाहे वह कितना ही धर्मात्मा बनने का प्रयास क्यों न करे। भक्त के लिए रजो तथा तमोगुण भगवत्कृपा से दूर हो जाते हैं। इस तरह भक्त सत्त्वगुण में अवस्थित हो जाता है, जो आदर्श ब्राह्मण का लक्षण है। कोई भी व्यक्ति, यदि वह प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में भक्तिपथ का अनुगमन करे, तो ब्राह्मण बन सकता है। *श्रीमद्भागवत* (२.४.१८) का भी कथन है :

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कशा
आभीरशुम्भा यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

कोई भी निम्नजन्मा व्यक्ति भगवान् के शुद्ध भक्त के मार्गनिर्देशन में शुद्ध हो सकता है, क्योंकि भगवान् अद्वितीय रूप से शक्तिमान हैं।

जब मनुष्य ब्राह्मण के गुणों को प्राप्त कर लेता है, तब वह सुखी हो जाता है और भगवान् की भक्ति करने के लिए उत्साहित रहता है। उसके समक्ष भगवद्विज्ञान स्वत: प्रकट हो जाता है। भगवद्विज्ञान जानने से मनुष्य धीरे-धीरे भौतिक आसक्तियों से मुक्त होता जाता है और उसका संशयग्रस्त मन भगवत्कृपा से विमल हो जाता है। जब उसे यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो वह मुक्तात्मा बन जाता है और जीवन के प्रत्येक पग में भगवान् का दर्शन कर सकता है। यह *सम्भव* की पराकाष्ठा है, जैसाकि *श्रीईशोपनिषद* के इस मंत्र में वर्णन किया गया है। •

मंत्र चौदह

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयः सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥ १४॥

सम्भूतिम्—शाश्वत भगवान् को, उनके दिव्य नाम, रूप, लीलाओं तथा गुणों को, साज-सामान को, उनके धाम की विविधता आदि को; **च**—तथा; **विनाशम्**—देवताओं, मनुष्यों, पशुओं इत्यादि की क्षणिक भौतिक अभिव्यक्ति तथा उनके मिथ्या नामों, यश इत्यादि को; **च**—भी; **य:**—जो; **तत्**—वह; **वेद**—जानता है; **उभयम्**—दोनों को; **सह**—सहित; **विनाशेन**—प्रत्येक विनाशशील वस्तु से; **मृत्युम्**—मृत्यु को; **तीर्त्वा**—पार करके; **सम्भूत्या**—भगवान् के शाश्वत राज्य में; **अमृतम्**—अमरता; **अश्नुते**—भोगता है।

अनुवाद

मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके दिव्य नाम, रूप, गुणों तथा लीलाओं के साथ ही साथ अस्थायी देवताओं, मनुष्यों तथा पशुओं से युक्त नश्वर भौतिक सृष्टि को भलीभाँति जान ले। जब मनुष्य इन्हें जान लेता है, तो वह मृत्यु एवं अनित्य दृश्य जगत को पार कर लेता है और भगवान् के शाश्वत राज्य में आनन्द तथा ज्ञान से युक्त शाश्वत जीवन भोगता है।

तात्पर्य

ज्ञान की तथाकथित प्रगति के द्वारा मानव सभ्यता ने अनेक भौतिक वस्तुओं का अविष्कार किया है जिनमें अन्तरिक्षयान तथा परमाणु शक्ति भी सम्मिलित हैं। फिर भी वह ऐसी स्थिति का निर्माण करने में विफल रही है, जिसमें लोगों को मरना न पड़े, फिर से जन्म न लेना पड़े, बुढ़ा न होना पडे और व्याधिग्रस्त न होना पड़े। जब भी कोई बुद्धिमान मनुष्य तथाकथित विज्ञानी के समक्ष इन कष्टों के प्रश्न को उठाता है, तो वह अत्यन्त चतुराई से उत्तर देता है कि भौतिक विज्ञान प्रगति कर रहा है और अन्ततः मनुष्य को रोगरहित बनाकर और वृद्धावस्था से छुटकारा दिलाकर अमर बनाया जा सकेगा। ऐसे उत्तर भौतिक प्रकृति के विषय में वैज्ञानिकों के निपट अज्ञान को दर्शाते हैं। भौतिक प्रकृति के अन्तर्गत प्रत्येक जीव कठोर भौतिक नियमों के अधीन है और उसे अस्तित्व की छः अवस्थाओं में से गुजरना होता है, ये हैं जन्म, वृद्धि, पालन, उपोत्पादन, क्षय तथा अन्ततोगत्वा मृत्यु। भौतिक प्रकृति के सम्पर्क में आने वाला कोई भी व्यक्ति इन छह नियमों से परे नहीं रह सकता; अतएव चाहे देवता, मनुष्य, पशु या वृक्ष कोई भी हो, वह भौतिक जगत में सदा जीवित नहीं रह सकता।

जीवन की अवधि योनियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। इस भौतिक ब्रह्माण्ड में जीवों में प्रधान ब्रह्माजी लाखों-करोड़ो वर्ष तक जीवित रहते हैं, जबकि एक सूक्ष्म कीटाणु केवल कुछ ही घण्टे तक ही जिन्दा रहता है। किन्तु इस भौतिक जगत में कोई शाश्वत काल तक जीवित नहीं रह सकता है। इस जगत में वस्तुएँ विशेष स्थितियों में उत्पन्न होती हैं या पैदा की जाती हैं; वे कुछ काल तक रहती हैं और यदि वे बनी रहती हैं, तो उनका विकास होता हैं, उत्पत्ति करती हैं, क्रमशः क्षीण होती हैं और अन्त में लुप्त हो जाती हैं। इन नियमों के अनुसार विभिन्न ब्रह्माण्डों के लाखों ब्रह्मा भी आज या कल मृत्यु को प्राप्त होंगे। इसीलिए सारा भौतिक ब्रह्माण्ड मृत्युलोक कहलाता है।

भौतिक विज्ञानी तथा राजनेता इस स्थान को मृत्युविहीन बनाने का प्रयास कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें मृत्युविहीन आध्यात्मिक प्रकृति का कोई ज्ञान नहीं है। यह तो उस वैदिक साहित्य के प्रति उनका अज्ञान है, जो परिपक्व दिव्य अनुभव के आधार पर पुष्ट ज्ञान से पूर्ण है। दुर्भाग्यवश आधुनिक मनुष्य वेदों, पुराणों तथा अन्य शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त करने में रुचि नहीं रखता है।

विष्णुपुराण (६.७.६१) से हमें निम्नलिखित जानकारी मिलती है :

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु की विभिन्न शक्तियाँ हैं। ये परा (उत्तम) तथा अपरा (हीन) कहलाती हैं। जीव परा शक्ति में आते हैं। भौतिक शक्ति जिसमें हम अभी फँसे हुए हैं, वह अपरा शक्ति है। इसी शक्ति से भौतिक सृष्टि सम्भव होती है। यह शक्ति जीव को अविद्या से आच्छादित कर लेती है और उन्हें सकाम कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। फिर भी भगवान् की उत्तम शक्ति का एक और भाग भी है, जो इस भौतिक अपरा शक्ति तथा जीवों से भिन्न है। इस उत्कृष्ट शक्ति से भगवान् का शाश्वत या अमर धाम बना है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.२०) में हुई है :

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

सारे भौतिक लोक—ऊर्ध्व, निम्न तथा मध्यलोक, जिनमें सूर्य, चन्द्र तथा शुक्र सम्मिलित हैं, ब्रह्माण्डभर में बिखरे हुए हैं। ये सारे लोक ब्रह्मा के जीवन काल तक ही रहते हैं। लेकिन कुछ निम्न लोक तो ब्रह्मा के एक दिन की समाप्ति पर ही नष्ट हो जाते हैं और ब्रह्मा के दूसरे दिन उनकी पुनः सरंचना की जाती है। ऊर्ध्व लोकों में समय की गणना भिन्न रीति से होती है। अनेक उच्चतर लोकों में हमारा एक वर्ष उनके एक दिन तथा एक रात्रि अर्थात् चौबीस घंटे के बराबर होता है। इन लोकों की काल-माप के अनुसार पृथ्वी के चारों युग (सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग) उनके केवल १२,००० वर्ष तक रहते हैं। यदि इस काल को एक हजार से गुणा किया जाए, तो यह ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य होगा और ब्रह्मा की एक रात भी इतनी ही होती है। ऐसे दिन-रात मिलकर मास तथा वर्ष की सृष्टि करते हैं और ब्रह्मा ऐसे एक सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं। ब्रह्मा के जीवन का अन्त होने पर सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि विनष्ट हो जाती है।

वे जीव जो सूर्य तथा चन्द्रमा जैसे उच्च लोकों में निवास करते हैं तथा वे जो मर्त्यलोक में, जिसमें यह पृथ्वी तथा नीचे के अनेक ग्रह सम्मिलित हैं, निवास करते हैं, सभी ब्रह्मा की रात्रि के समय प्रलय के जल में डूब जाते हैं। इस काल में कोई भी जीव या योनि प्रकटावस्था में नहीं रहते, यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से ये बने रहते हैं। यह अप्रकट अवस्था *अव्यक्त* कहलाती है। पुनः जब ब्रह्मा की आयु के अन्त में सारा ब्रह्माण्ड नष्ट हो जाता है, तो एक अन्य

अव्यक्त अवस्था आती है। किन्तु इन दो अव्यक्त अवस्थाओं से परे एक और अव्यक्त अवस्था है—आध्यात्मिक आकाश या प्रकृति। इस आकाश में अनेक आध्यात्मिक लोक हैं और वे उस समय भी शाश्वत रूप से बने रहते हैं, जब इस भौतिक ब्रह्माण्ड के सारे लोक ब्रह्मा के जीवन की समाप्ति पर नष्ट हो जाते हैं। भौतिक ब्रह्माण्ड अनेक हैं और इसमें से प्रत्येक ब्रह्माण्ड एक ब्रह्मा के अधिकार में होता है और यह पूरा दृश्य जगत जो (अनेक ब्रह्माण्डों के) अनेक ब्रह्माओं के अधिकार में है, वह परमेश्वर की मात्र एक चौथाई शक्ति का प्रदर्शन है (*एकपाद विभूति*)। यह अपरा अर्थात् निकृष्ट शक्ति है। ब्रह्मा के अधिकार क्षेत्र के परे है, आध्यात्मिक प्रकृति जो *त्रिपाद-विभूति* कहलाती है और यह भगवान् की शक्ति का तीन चौथाई भाग होती है। यह परा अर्थात् उत्कृष्ट प्रकृति है।

आध्यात्मिक प्रकृति में निवास करने वाले अधिष्ठाता परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.२२) में पुष्टि की गई है, केवल अनन्य भक्ति द्वारा ही भगवान् तक पहुँचा जा सकता है—ज्ञान, योग या कर्म की विधियों द्वारा नहीं। कर्मी लोग अर्थात् सकाम कर्म करने वाले लोग स्वर्गलोकों तक, जिनमें सूर्य तथा चन्द्र सम्मिलित हैं, उन्नत हो सकते हैं। ज्ञानी तथा योगी इससे भी उच्चतर लोकों यथा महर्लोक, तपोलोक तथा ब्रह्मलोक तक पहुँच सकते हैं। किन्तु भक्तिमय सेवा द्वारा जब वे और अधिक योग्य हो जाते हैं, तो उन्हें अपनी-अपनी योग्यताओं के अनुसार आध्यात्मिक प्रकृति में या तो आध्यात्मिक आकाश के प्रदीप्त विश्व-परिवेश (ब्रह्म) में या वैकुण्ठ ग्रहों में प्रवेश करने दिया जाता है। लेकिन इतना तो निश्चित है कि भक्ति में प्रशिक्षित हुए बिना किसी को भी

वैकुण्ठ ग्रहों में प्रविष्ट नहीं होने दिया जाता।

भौतिक ग्रहों में ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सारे प्राणी भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास करते हैं और यही भवरोग है। जब तक यह भवरोग रहता है, तब तक प्रत्येक जीव को देह-परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। चाहे वह मनुष्य का रूप प्राप्त करे या देवता अथवा पशु का, उसे दो प्रलयों—ब्रह्मा की रात्रि का प्रलय तथा ब्रह्मा के जीवन के अन्त का प्रलय—के बीच की अव्यक्त अवस्था सहन करनी पड़ती है। यदि हम जन्म तथा मृत्यु के बारम्बार के चक्र को समाप्त करना चाहते हैं तथा साथ ही साथ बुढ़ापे तथा रोग को भी दूर करना चाहते हैं, तो हमें आध्यात्मिक लोकों में प्रवेश करने का प्रयास करना चाहिए, जहाँ हम भगवान् कृष्ण या उनके स्वांश विस्तारों अर्थात् नारायण रूपों की संगति में नित्य रह सकते हैं। भगवान् कृष्ण या उनके स्वांश विस्तार इन असंख्य लोकों में से प्रत्येक के अधिष्ठाता हैं, जिस तथ्य की पुष्टि श्रुति मंत्रों में होती है। *एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति।* (*गोपालतापनी उपनिषद्* १.३.२१)

कृष्ण के ऊपर कोई प्रभुत्व नहीं जमा सकता। वह बद्धजीव है, जो भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जमाना चाहता है और उल्टे प्रकृति के नियमों को तथा बारम्बार होने वाले जन्म-मृत्यु के कष्टों को भोगता है। भगवान् यहाँ पर धर्म के नियमों की पुनःस्थापना करने के लिए आते हैं और मूल सिद्धान्त तो उनकी शरण में जाने के लिए मनोभाव को विकसित करना है। *भगवद्गीता* (१८.६६) में भगवान् का यही अन्तिम आदेश है, *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* "अन्य सभी धर्मों को त्याग कर मात्र मेरी शरण में आओ।" लेकिन दुर्भाग्यवश मूर्खों ने इस सर्वोत्तम शिक्षा की गलत व्याख्या करके जनता को विभिन्न प्रकार से पथभ्रष्ट किया है। लोगों को अस्पताल खोलने के लिए तो प्रेरित किया गया है, किन्तु भक्तिमय सेवा द्वारा वैकुण्ठ जाने के लिए अपने आपको शिक्षित करने के लिए नहीं बताया गया। उन्हें अस्थाई राहत कार्य में ही रुचि लेने की शिक्षा दी गई है, जिससे जीव को कभी भी वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। वे प्रकृति की विनाशकारी शक्ति का सामना करने के लिए अनेक प्रकार की सार्वजनिक तथा अर्धसरकारी संस्थाएँ चलाते हैं, लेकिन वे यह नहीं जानते कि दुर्जेय प्रकृति को किस तरह शान्त की जाए। अनेक लोगों को *भगवद्गीता* के महान् पंडित के रूप में प्रचारित किया जाता है, लेकिन वे गीता के उस सन्देश पर ध्यान नहीं देते हैं, जिससे भौतिक प्रकृति को शान्त किया जा सकता है। शक्तिशाली प्रकृति को केवल भगवद्चेतना जागृत करके ही शान्त किया जा सकता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में स्पष्ट रूप से इंगित किया गया है।

इस मंत्र द्वारा *श्रीईशोपनिषद्* सिखाती है कि मनुष्य को *सम्भूति* (परम पुरुष भगवान्) तथा *विनाश* (नश्वर भौतिक जगत) दोनों को ही साथ-साथ भलीभाँति जानना चाहिए। केवल भौतिक सृष्टि को जानकर कोई बच नहीं सकता, क्योंकि प्रकृति में प्रतिक्षण विनाशलीला चलती रहती है। *अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।* न ही अस्पताल खोलकर किसी को इस विनाशलीला से बचाया जा सकता है। केवल आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण शाश्वत जीवन की पूरी जानकारी से ही किसी को बचाया जा सकता है। सम्पूर्ण वैदिक योजना मनुष्यों को शाश्वत जीवन की उपलब्धि की

इस कला में शिक्षित करना है। लोग प्राय: इन्द्रियतृप्ति पर आधारित क्षणिक आकर्षक वस्तुओं द्वारा भ्रमित हो जाते हैं, लेकिन इन्द्रियविषयों के प्रति की जाने वाली सेवा पथभ्रष्ट करने वाली तथा नीचे गिराने वाली है।

अतएव हमें अपने आपको तथा अपने संगी को सही ढंग से बचाना चाहिए। सत्य को चाहने या न चाहने का प्रश्न नहीं है। वह तो है ही। यदि हम बारम्बार होने वाले जन्म-मृत्यु के चक्र से बचना चाहते हैं, तो हमें भगवान् की भक्तिमय सेवा ग्रहण करनी चाहिए। इसमें कोई समझौता नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो अनिवार्यता का विषय है। •

मंत्र पन्द्रह

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥

हिरणमयेन—स्वर्णिम तेज वाले; **पात्रेण**—दीप्त आवरण से; **सत्यस्य**—परम सत्य के; **अपिहितम्**—प्रच्छन्न; **मुखम्**—चेहरा, मुँह को; **तत्**—वह आवरण; **त्वम्**—तुम; **पूषन्**—हे पालक; **अपावृणु**—कृपया हटा लीजिए; **सत्य**—शुद्ध; **धर्माय**—भक्त के लिए; **दृष्टये**—प्रदर्शन हेतु।

अनुवाद

हे भगवन्, हे समस्त जीवों के पालक, आपका असली मुखमंडल तो आपके चमचमाते तेज से ढका हुआ है। कृपा करके इस आवरण को हटा लीजिए और अपने शुद्ध भक्त को अपना दर्शन दीजिए।

तात्पर्य

भगवद्गीता (१४.२७) में अपने साकार स्वरूप के देदीप्यमान तेज (ब्रह्मज्योति) का वर्णन भगवान् इस प्रकार करते हैं :

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

"मैं उस निराकार ब्रह्म का आधार हूँ, जो अमर, अविनाशी तथा शाश्वत है और जो परम सुख का स्वाभाविक पद है।"

'ब्रह्म,' 'परमात्मा' तथा 'भगवान्' एक ही परम सत्य के तीन पहलू हैं। ब्रह्म ऐसा पहलू है, जो आरम्भकर्ता व्यक्ति के लिए सहजगम्य है। 'परमात्मा' स्वरूप उनके द्वारा अनुभवगम्य होता है, जिन्होंने और आगे प्रगति कर ली है और 'भगवान्-साक्षात्कार' तो परम सत्य की चरम अनुभूति है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.७) में की गई है, जहाँ पर भगवान् कृष्ण यह कहते हैं कि वे परम सत्य की चरम धारणा हैं; *मत्तः परतरं नान्यत्।* अतः कृष्ण ब्रह्मज्योति एवं सर्वव्यापी परमात्मा दोनों के स्रोत हैं। भगवद्गीता (१०.४२) में कृष्ण आगे कहते हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

"लेकिन हे अर्जुन, इस सारे विशद् ज्ञान की क्या आवश्यकता है? मैं अपने एक अंश मात्र से इस समग्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर इसको धारण करता हूँ।" इस तरह अपने एक स्वांश सर्वव्यापी परमात्मा स्वरूप से भगवान् सम्पूर्ण भौतिक विराट सृष्टि का पालन करते हैं। साथ ही वे आध्यात्मिक जगत में भी जो कुछ व्यक्त है, उसके पालनकर्ता हैं। अतएव *श्रीईशोपनिषद्* के इस श्रुति-मंत्र में भगवान् को *पूषन्* अर्थात् चरम पालक के रूप में संबोधित किया गया है।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण सतत दिव्य आनन्द से पूरित हैं (*आनन्दमयोऽभ्यासात्*)। आज से ५,००० वर्ष पूर्व जब वे भारत में वृन्दावन में विद्यमान थे, तो वे सदैव दिव्य आनन्द में निमग्न रहे, यहाँ तक कि अपनी बाल लीलाओं के प्रारम्भ से ही वे वैसे थे। अघ, बक, पूतना तथा प्रलम्ब जैसे अनेक असुरों का वध उनके

लिए आनन्ददायक क्रीड़ा थी। वृन्दावन के ग्राम में उन्होंने अपनी माता, भ्राता तथा मित्रों के साथ आनन्दपूर्ण लीलाएँ कीं और जब वे चपल माखनचोर की भूमिका निभा रहे थे, तो उनके सारे संगी उनकी इस चोरी का दिव्य आनन्द उठा रहे थे। माखनचोर के रूप में भगवान् का यश उपालम्भ के योग्य नहीं है, क्योंकि माखन चुराकर भगवान् अपने शुद्ध भक्तों को आनन्द प्रदान कर रहे थे। भगवान् ने वृन्दावन में जो कुछ भी किया, वह सब उन्होंने अपने संगियों को आनन्द प्रदान करने के लिए किया था। भगवान् ने ये लीलाएँ उन शुष्क मनोधर्मियों एवं तथाकथित हठयोग के उन कलाबाजों को आकृष्ट करने के लिए कीं, जो परम सत्य की खोज करना चाहते हैं।

भगवान् तथा ग्वालबालों के मध्य बालपन के खेल के विषय में शुकदेव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* (१०.१२.११) में कहा है :

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥

"ज्ञानियों द्वारा निराकार, आनन्दमय ब्रह्म के रूप में अनुभव किये जाने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जिनकी पूजा भक्तों के द्वारा परमेश्वर रूप में दास्य भाव में की जाती है और संसारी लोग जिन्हें सामान्य मनुष्य मानते हैं, वे उन ग्वालबालों के साथ खेले, जिन्होंने अनेक पुण्यकर्मों के संचय के फलस्वरूप यह पद प्राप्त किया था।"

इस प्रकार भगवान् अपने आध्यात्मिक संगियों के साथ दिव्य

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य सम्बन्धों में प्रेमपूर्ण कार्यकलापों में सदैव रत रहते हैं।

चूँकि यह कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण कभी वृन्दावन धाम छोड़ते नही, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि वे सृष्टि के संचालन का कार्य किस तरह सँभालते हैं? इसका उत्तर *भगवद्गीता* (१३.१४-१८) में इस प्रकार दिया हुआ है—"भगवान् अपने पूर्ण अंश परमात्मा रूप द्वारा सारी भौतिक सृष्टि में व्याप्त रहते हैं। यद्यपि भगवान् को व्यक्तिगत रूप से सृष्टि, पालन तथा संहार से किसी प्रकार का सरोकार नहीं रहता, लेकिन वे इन सारे कार्यों को अपने पूर्ण विस्तार परमात्मा द्वारा कराते हैं। प्रत्येक जीव आत्मा कहलाता है और प्रमुख आत्मा जो इन सबको वश में रखते हैं, वे परमात्मा कहलाते हैं।"

ईश्वर-साक्षात्कार की यह पद्धति एक महान् विज्ञान है। भौतिकतावादी सांख्य-योगी इस भौतिक सृष्टि के चौबीस तत्त्वों का विश्लेषण तथा चिन्तन ही कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें *पुरुष* अर्थात् भगवान् के विषय में कोई जानकारी नहीं रहती। और निर्विशेष अध्यात्मवादी ब्रह्मज्योति की चकाचौंध मात्र से ही मोहित हो जाते हैं। यदि कोई सचमुच परम सत्य को पूरी तरह जानना चाहता है, तो उसे चौबीस भौतिक तत्त्वों एवं ब्रह्मज्योति को भेदकर उनके परे जाना होगा। *श्रीईशोपनिषद् हिरण्मयपात्र* या भगवान् के दीप्तमान आवरण को हटाने के लिए प्रार्थना करते हुए इसी ओर संकेत करती है। जब तक यह आवरण हटा नहीं दिया जाता, जिससे कि मनुष्य भगवान् के असली कमलमुख का दर्शन कर सके, तब तक परम सत्य का वास्तविक साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

'परमात्मा स्वरूप' पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के तीन स्वांश विस्तारों या विष्णुतत्त्वों में से एक है, जिन्हें सामूहिक तौर पर पुरुष अवतार कहा जाता है। इन विष्णुतत्त्वों में से एक जो कि ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित है, 'क्षीरोदकशायी विष्णु' के नाम से जाने जाते हैं। वे तीन प्रमुख देवों (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) में विष्णु हैं और प्रत्येक जीव में सर्वव्यापी परमात्मा हैं। ब्रह्माण्ड में दूसरे विष्णुतत्त्व 'गर्भोदकशायी' विष्णु समस्त जीवों के भीतर का सामूहिक परमात्मा हैं। इन दोनों के आगे 'कारणोदकशायी विष्णु' हैं, जो कारण सागर में शयन करते हैं। वे समस्त ब्रह्माण्डों के स्रष्टा हैं। योगपद्धति गम्भीर जिज्ञासु को विराट सृष्टि के चौबीसों तत्त्वों को लाँघकर विष्णुतत्त्व से भेंट करने की शिक्षा देती है। ज्ञानयोग के अभ्यास से निर्विशेष ब्रह्मज्योति की अनुभूति करने में सहायता मिलती है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य शरीर का देदीप्यमान तेज है। ब्रह्मज्योति कृष्ण का तेज है, इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२७) तथा *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) दोनों में की गई है :

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"लाखों-करोड़ो ब्रह्माण्डों में असंख्य ग्रह हैं और इनमें से प्रत्येक ग्रह अपनी विराट संरचना के कारण एक दूसरे से भिन्न है। ये सारे ग्रह ब्रह्मज्योति के एक कोने में स्थित हैं। यह ब्रह्मज्योति उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविंद की केवल शारीरिक किरणें मात्र हैं, जिनकी मैं पूजा करता हूँ।" *ब्रह्म-संहिता* का यह मंत्र परम सत्य

के वास्तविक साक्षात्कार के आधार पर कहा गया है और *श्रीईशोपनिषद्* का यह श्रुतिमंत्र इस मंत्र की पुष्टि साक्षात्कार की विधि के रूप में करता है। यह *ईशोपनिषद्* मंत्र तो भगवान् से की गई एक विनित प्रार्थना है कि वे ब्रह्मज्योति के तेज को हटा दें, जिससे उनके वास्तविक मुख का दर्शन किया जा सके। इस ब्रह्मज्योति के तेज का वर्णन मुण्डक उपनिषद् (२.२.१०-१२) के कुछ मंत्रों में विस्तारपूर्वक किया गया है :

हिरण्मये परे कोशे
विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योति-
स्तद्यदात्मविदो विदुः॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म
पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मै-
वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

"भौतिक आवरण के उस पार, आध्यात्मिक क्षेत्र में अनन्त ब्रह्मज्योति है, जो भौतिक कल्मष से सर्वथा रहित है। उस तेजस्वी श्वेत प्रकाश को अध्यात्मवेत्ता सब प्रकाशों में सर्वोत्तम प्रकाश के रूप में जानते हैं। उस प्रक्षेत्र में प्रकाश के लिए सूर्य, चन्द्र, अग्नि या विद्युत् की आवश्यकता नहीं होती। निःसंदेह, भौतिक जगत में

जो भी प्रकाश हमें देखने को मिलता है, वह उसी सर्वोपरि प्रकाश का परावर्तन मात्र है। वह ब्रह्म आगे भी है और पीछे भी है; उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में भी है एवं ऊपर तथा नीचे भी है। दूसरे शब्दों में, वह सर्वोपरि ब्रह्मज्योति भौतिक जगत एवं आध्यात्मिक जगत में सर्वत्र व्याप्त है।"

पूर्ण ज्ञान का अर्थ है, कृष्ण को ब्रह्मज्योति के मूल के रूप में जानना। यह ज्ञान *श्रीमद्भागवत* जैसे शास्त्रों से, प्राप्त किया जा सकता है, जहाँ कृष्ण-विज्ञान का विशद् विवेचन हुआ है। *श्रीमद्भागवत* में इसके रचयिता श्रील व्यासदेव ने स्थापित किया है कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की अपनी-अपनी अनुभूति के अनुसार परम सत्य का वर्णन 'ब्रह्म', 'परमात्मा' या 'भगवान्' के रूप में करता है। श्रील व्यासदेव यह कभी नहीं कहते कि परम सत्य एक सामान्य जीव है। जीव को कभी भी सर्वशक्तिमान परम सत्य नहीं मानना चाहिए। यदि जीव ऐसा होता, तो फिर उसे भगवान् से यह प्रार्थना करने की आवश्यकता न पड़ती कि वे अपना देदीप्यमान आवरण हटा लें, जिससे जीव उनके वास्तविक कमलमुख का दर्शन कर सकें।

निष्कर्ष यह है कि जिस मनुष्य को परम सत्य की शक्तियों की जानकारी नहीं होती, उसे निराकार ब्रह्म की अनुभूति होती है। इसी प्रकार जब किसी को भगवान् की भौतिक शक्तियों की अनुभूति होती है, किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्तियों का ज्ञान नहीं रहता या अल्प ज्ञान रहता है, तो उसे 'परमात्मा' का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार परम सत्य की 'ब्रह्म' तथा 'परमात्मा' दोनों ही अनुभूतियाँ आंशिक साक्षात्कार हैं। किन्तु जब कोई *हिरण्मयपात्र* के हटने के

पश्चात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण शक्ति के साथ साक्षात्कार करता है, तो उसे *वासुदेवः सर्वम् इति*—अर्थात् मूल भगवान् श्रीकृष्ण जो वासुदेव के रूप में जाने जाते हैं, वे सब कुछ हैं—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्। वे भगवान् मूल के समान हैं और ब्रह्म तथा परमात्मा उनकी शाखाएँ हैं।

भगवद्गीता (६.४६-४७) में तीन प्रकार के अध्यात्मवादियों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है—ये हैं निराकार ब्रह्म के उपासक (ज्ञानी), परमात्मा स्वरूप के उपासक (योगी) तथा भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त (भक्त)। वहाँ कहा गया है कि जो ज्ञानी हैं, अर्थात् जिन्होंने वैदिक ज्ञान का अनुशीलन किया है, वे सामान्य सकाम कर्मियों से बेहतर हैं। लेकिन योगी इनसे भी बेहतर हैं। इन सब योगियों में से जो पूरी शक्ति से भगवान् की निरन्तर सेवा करते हैं, वे सर्वोच्च हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि एक दार्शनिक (विचारक) एक श्रमिक से बेहतर है और एक योगी एक विचारक से बेहतर है और सभी योगियों में से वह योगी, जो भक्तियोग का पालन करता है और निरन्तर भगवान् की सेवा में लगा रहता है, सर्वश्रेष्ठ है। *श्रीईशोपनिषद्* हमें इसी पूर्णता का पथ दर्शाती है। •

मंत्र सोलह

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य
व्यूह रश्मीन् समूह
तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं
तत् ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

पूषन्—हे पालक; **एकर्षे**—आदि विचारक; **यम**—नियामक सिद्धान्त; **सूर्य**—सूरियों (महाभागवतों) के लक्ष्य; **प्राजापत्य**—प्रजापतियों (मानवजाति के जनक) के शुभचिन्तक; **व्यूह**—कृपया हटा दें; **रश्मीन्**—किरणें; **समूह**—कृपया वापस ले लें, खींच लें; **तेजः**—तेज; **यत्**—जिससे; **ते**—आपका; **रूपम्**—स्वरूप; **कल्याणतमम्**—सर्वाधिक कल्याणकारी; **तत्**—वह; **ते**—आपका; **पश्यामि**—मैं देख सकूँ; **यः**—जो है; **असौ**—सूर्य के समान; **असौ**—वह; **पुरुषः**—परम पुरुष भगवान्; **सः**—वह (मैं); **अहम्**—मैं; **अस्मि**—हूँ।

अनुवाद

हे भगवन्, हे आदि विचारक, हे ब्रह्माण्ड के पालक, हे नियामक, शुद्ध भक्तों के लक्ष्य, मानवजाति के प्रजापतियों के शुभचिन्तक, कृपा करके आप अपनी दिव्य किरणों के तेज को हटा लें जिससे मैं आपके आनन्दमय स्वरूप का दर्शन कर सकूँ। जिस प्रकार सूर्य और सूर्य की किरणें होती हैं, उसी प्रकार आप परमेश्वर हैं और मैं एक तुच्छ जीव हूँ।

तात्पर्य

सूर्य तथा उसकी किरणें गुण की दृष्टि से समान हैं। इसी प्रकार भगवान् तथा जीव भी गुण में एक समान हैं। सूर्य एक है लेकिन सूर्य की किरणों के अणु असंख्य हैं। सूर्य की किरणें सूर्य के अंश हैं और सूर्य तथा उसकी किरणें मिलकर पूर्ण सूर्य की रचना करती हैं। सूर्य के ही भीतर सूर्यदेव का निवास है, उसी तरह परम आध्यात्मिक लोक, गोलोक वृन्दावन के भीतर जिससे ब्रह्मज्योति का तेज उद्भूत होता है, भगवान् अपनी सनातन लीलाओं का आनन्द लेते हैं, जिसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.२९) में होती है :

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान्, प्रथम जनक गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो चिन्तामणि से पूरित तथा लाखों कल्पवृक्षों से घिरे हुए धामों में सुरभि गाएँ चराते हैं। वे सदैव लाखों लक्ष्मियों द्वारा अत्यन्त आदर तथा प्रेम से सेवित हैं।"

ब्रह्मज्योति का वर्णन भी *ब्रह्म-संहिता* में मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि परम आध्यात्मिक लोक गोलोक वृन्दावन से निकलने वाली ब्रह्मज्योति की किरणें सूर्यलोक से निकलने वाली सूर्य की किरणों की तरह होती हैं। जब तक कोई ब्रह्मज्योति की चकाचौंध को पार नहीं कर लेता, तब तक उसे भगवान् के धाम की कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती। निर्विशेषवादी दार्शनिक ब्रह्मज्योति की जगमगाहट से अन्धे होकर न तो भगवान् के

वास्तविक धाम की, न ही उनके दिव्य स्वरूप की अनुभूति कर पाते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी अपने अल्प ज्ञान के कारण भगवान् कृष्ण के परम आनन्दमय दिव्य स्वरूप को समझ नहीं पाते। अतएव *श्रीईशोपनिषद्* की इस प्रार्थना में भगवान् से याचना की गई है कि वे ब्रह्मज्योति की तेजोमय किरणें हटा लें, जिससे कि शुद्ध भक्त उनके परम आनन्दमय दिव्य स्वरूप का दर्शन कर सके।

निर्विशेष ब्रह्मज्योति की अनुभूति होने से मनुष्य को भगवान् के कल्याणकारी स्वरूप का अनुभव होता है और परमात्मा की अथवा भगवान् के सर्वव्यापक गुण की अनुभूति होने से उसे इससे भी अधिक कल्याणकारी अनुभव होता है। लेकिन साक्षात् भगवान् से आमने-सामने भेंट करके भक्त को भगवान् के सर्वाधिक कल्याणकारी स्वरूप की अनुभूति होती है। चूँकि उन्हें आदि विचारक तथा ब्रह्माण्ड के पालक एवं शुभचिन्तक के रूप में सम्बोधित किया गया है, अतएव परम सत्य निराकार नहीं हो सकता। यह *श्रीईशोपनिषद्* का निर्णय है। *पूषन्* शब्द (पालनकर्ता) विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यद्यपि भगवान् सभी जीवों का पालन करते हैं, लेकिन वे अपने भक्तों का विशेष रूप से पालन करते हैं। निर्विशेष ब्रह्मज्योति को पार कर लेने और भगवान् के परमात्मा स्वरूप का एवं उनके सर्वाधिक कल्याणकारी सनातन स्वरूप का दर्शन कर लेने के बाद भक्त को परम सत्य की पूर्णरूपेण अनुभूति हो जाती है।

श्रील जीव गोस्वामी अपनी पुस्तक भगवत् सन्दर्भ में कहते हैं, "पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में परम सत्य की पूर्ण अवधारणा की अनुभूति होती है, क्योंकि वे सर्वशक्तिमान हैं और समस्त दिव्य

में विस्तार करते हैं और इन्ही विस्तारों द्वारा वे भौतिक जगत का पालन करते हैं। ऐसे विस्तारों के द्वारा वे भौतिक जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

सारे जीव भी भगवान् के ही विभिन्न अंश (विस्तार) हैं और चूँकि इनमें से कुछ स्वामी बनना तथा परमेश्वर की नकल करना चाहते हैं, अतएव वे उन्हें इस भौतिक सृष्टि में प्रवेश करने की अनुमति इस छूट के साथ देते हैं कि वे प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व जमाने की अपनी प्रवृत्ति का पूर्ण उपयोग कर लें। भगवान् के अंश-रूप जीवों की उपस्थिति से सम्पूर्ण व्यवहार जगत क्रिया-प्रतिक्रिया से आलोडित हो जाता है। इस तरह जीवों को भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने की पूरी सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, लेकिन परम नियन्ता तो अपने स्वांश 'परमात्मा' रूप में जो *पुरुषों* में से एक है, स्वयं भगवान् ही हैं।

इस प्रकार जीव (आत्मा) तथा नियामक भगवान् (परमात्मा) में जमीन-आसमान का अन्तर है। परमात्मा नियन्ता हैं और आत्मा नियंत्रित है; अतएव वे विभिन्न स्तर पर हैं। चूँकि परमात्मा आत्मा से पूर्ण सहयोग करते हैं, अतएव वे जीव का चिर संगी माने जाते हैं।

भगवान् का सर्वव्यापी पहलू ब्रह्म कहा जाता है, जो सोने, जगने तथा संभावित क्रियात्मक स्थितियों में विद्यमान है तथा जिससे बद्ध एवं मुक्त जीव के रूप में जीव-शक्ति उत्पन्न होती है। चूँकि भगवान् परमात्मा तथा ब्रह्म दोनों के ही मूल स्रोत हैं, अतएव वे समस्त जीवों तथा अन्य जो कुछ विद्यमान है, उन सबके स्रोत हैं। जो यह जान जाता है, वह तुरन्त भगवान् की भक्तिमय सेवा में

शक्तियों से युक्त हैं। चूँकि ब्रह्मज्योति में परम सत्य की पूर्ण शक्ति की अनुभूति नहीं हो पाती, अतएव 'ब्रह्म-साक्षात्कार' पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का केवल आंशिक साक्षात्कार है। हे विद्वान ऋषियों 'भगवान्' शब्द के प्रथम अक्षर (भ) के दो अर्थ हैं— पहला "जो पूरी तरह भरण करता है" तथा दूसरा "अभिभावक।" दूसरे अक्षर (ग) का अर्थ है, पथप्रदर्शक या स्रष्टा। *वान्* का अर्थ है, उनमें सभी जीव निवास करते हैं और वे भी सब में हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दिव्य शब्द *भगवान्* अनन्त ज्ञान, सामर्थ्य, शक्ति, ऐश्वर्य, बल तथा प्रभाव को बताता है—जिसमें लेशमात्र भी भौतिक दोष नहीं होता।"

भगवान् अपने अनन्य भक्तों का पूरी तरह पालन करते हैं और भक्ति की पराकाष्ठा के मार्ग पर उन्हें क्रमशः अग्रसर होने के लिए मार्गदर्शन करते हैं। वे अपने भक्तों के नायक के रूप में अन्ततोगत्वा उन्हीं को अपने आपको सौंप करके उनकी भक्तिमय सेवा की समस्त आकांक्षाओं को पूरा करते हैं। भगवद्भक्त भगवान् की अहैतुकी कृपा से भगवान् का साक्षात् दर्शन करते हैं और इस तरह भगवान् अपने भक्तों को सर्वोच्च आध्यात्मिक लोक, गोलोक वृन्दावन पहुँचने में सहायक बनते हैं। स्रष्टा होने के कारण वे अपने भक्तों को वे समस्त योग्यताएँ प्रदान कर सकते हैं, जिससे वे अन्ततः उनके पास पहुँच सकें। भगवान् समस्त कारणों के कारण हैं। दूसरे शब्दों में, चूँकि उनका कोई कारण नहीं है, अतएव वे ही आदि कारण हैं। परिणाम-स्वरूप वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के संसर्ग से आनन्द का आस्वादन करते हैं। बहिरंगा शक्ति पूरी तरह से उनके द्वारा प्रकट नहीं की जाती, क्योंकि वे अपना *पुरुषों* के रूप

शक्तियों से युक्त हैं। चूँकि ब्रह्मज्योति में परम सत्य की पूर्ण शक्ति की अनुभूति नहीं हो पाती, अतएव 'ब्रह्म-साक्षात्कार' पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का केवल आंशिक साक्षात्कार है। हे विद्वान ऋषियों 'भगवान्' शब्द के प्रथम अक्षर (भ) के दो अर्थ हैं— पहला "जो पूरी तरह भरण करता है" तथा दूसरा "अभिभावक।" दूसरे अक्षर (ग) का अर्थ है, पथप्रदर्शक या स्रष्टा। *वान्* का अर्थ है, उनमें सभी जीव निवास करते हैं और वे भी सब में हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दिव्य शब्द *भगवान्* अनन्त ज्ञान, सामर्थ्य, शक्ति, ऐश्वर्य, बल तथा प्रभाव को बताता है—जिसमें लेशमात्र भी भौतिक दोष नहीं होता।"

भगवान् अपने अनन्य भक्तों का पूरी तरह पालन करते हैं और भक्ति की पराकाष्ठा के मार्ग पर उन्हें क्रमशः अग्रसर होने के लिए मार्गदर्शन करते हैं। वे अपने भक्तों के नायक के रूप में अन्ततोगत्वा उन्हीं को अपने आपको सौंप करके उनकी भक्तिमय सेवा की समस्त आकांक्षाओं को पूरा करते हैं। भगवद्भक्त भगवान् की अहैतुकी कृपा से भगवान् का साक्षात् दर्शन करते हैं और इस तरह भगवान् अपने भक्तों को सर्वोच्च आध्यात्मिक लोक, गोलोक वृन्दावन पहुँचने में सहायक बनते हैं। स्रष्टा होने के कारण वे अपने भक्तों को वे समस्त योग्यताएँ प्रदान कर सकते हैं, जिससे वे अन्ततः उनके पास पहुँच सकें। भगवान् समस्त कारणों के कारण हैं। दूसरे शब्दों में, चूँकि उनका कोई कारण नहीं है, अतएव वे ही आदि कारण हैं। परिणाम-स्वरूप वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के संसर्ग से आनन्द का आस्वादन करते हैं। बहिरंगा शक्ति पूरी तरह से उनके द्वारा प्रकट नहीं की जाती, क्योंकि वे अपना *पुरुषों* के रूप

में विस्तार करते हैं और इन्ही विस्तारों द्वारा वे भौतिक जगत का पालन करते हैं। ऐसे विस्तारों के द्वारा वे भौतिक जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

सारे जीव भी भगवान् के ही विभिन्न अंश (विस्तार) हैं और चूँकि इनमें से कुछ स्वामी बनना तथा परमेश्वर की नकल करना चाहते हैं, अतएव वे उन्हें इस भौतिक सृष्टि में प्रवेश करने की अनुमति इस छूट के साथ देते हैं कि वे प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व जमाने की अपनी प्रवृत्ति का पूर्ण उपयोग कर लें। भगवान् के अंश-रूप जीवों की उपस्थिति से सम्पूर्ण व्यवहार जगत क्रिया-प्रतिक्रिया से आलोडित हो जाता है। इस तरह जीवों को भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने की पूरी सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, लेकिन परम नियन्ता तो अपने स्वांश 'परमात्मा' रूप में जो *पुरुषों* में से एक है, स्वयं भगवान् ही हैं।

इस प्रकार जीव (आत्मा) तथा नियामक भगवान् (परमात्मा) में जमीन-आसमान का अन्तर है। परमात्मा नियन्ता हैं और आत्मा नियंत्रित है; अतएव वे विभिन्न स्तर पर हैं। चूँकि परमात्मा आत्मा से पूर्ण सहयोग करते हैं, अतएव वे जीव का चिर संगी माने जाते हैं।

भगवान् का सर्वव्यापी पहलू ब्रह्म कहा जाता है, जो सोने, जगने तथा संभावित क्रियात्मक स्थितियों में विद्यमान है तथा जिससे बद्ध एवं मुक्त जीव के रूप में जीव-शक्ति उत्पन्न होती है। चूँकि भगवान् परमात्मा तथा ब्रह्म दोनों के ही मूल स्रोत हैं, अतएव वे समस्त जीवों तथा अन्य जो कुछ विद्यमान है, उन सबके स्रोत हैं। जो यह जान जाता है, वह तुरन्त भगवान् की भक्तिमय सेवा में

लग जाता है। भगवान् का ऐसा शुद्ध एवं पूर्ण ज्ञानी भक्त तन-मन से भगवान् के प्रति आसक्त रहता है और जब भी ऐसा भक्त अपने जैसे अन्य भक्तों के साथ मिलता है, तो उन सबके पास भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के महिमा-गायन के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं होता। जो लोग शुद्ध भक्तों के समान उन्नत नहीं हैं अर्थात् जिन्होंने भगवान् के केवल ब्रह्म या परमात्मा पहलू का साक्षात्कार किया है, वे शुद्ध भक्तों के कार्यकलापों को नहीं समझ सकते। भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के हृदयों के भीतर आवश्यक ज्ञान प्रदान करके सदैव उनकी सहायता करते हैं और इस तरह अपनी विशेष कृपा से अज्ञान के अंधकार को दूर कर देते हैं। ज्ञानी तथा योगी इसकी कल्पना तक नहीं कर सकते, क्योंकि वे न्यूनाधिक अपनी खुद की शक्ति पर आश्रित रहते हैं। जैसाकि *कठोपनिषद्* (१.२.२३) में कहा गया है, भगवान् केवल उन्हीं के द्वारा जाने जा सकते हैं, जिन पर उनकी कृपा होती है, अन्य किसी के द्वारा नहीं। ऐसी विशेष कृपा केवल उनके शुद्ध भक्तों को ही प्रदान की जाती है। इस तरह *श्रीईशोपनिषद्* भगवान् की कृपा की ओर संकेत करती है, जो ब्रह्मज्योति के कार्यक्षेत्र के परे है। •

मंत्र सत्रह

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ १७॥

वायुः—प्राणवायु; **अनिलम्**—वायु का पूर्णकोष; **अमृतम्**—अविनाशी; **अथ**—अब; **इदम्**—यह; **भस्मान्तम्**—भस्म हो जाने पर; **शरीरम्**—शरीर; **ॐ**—हे भगवान्; **क्रतो**—हे समस्त यज्ञों के भोक्ता; **स्मर**—कृपया स्मरण करें; **कृतम्**—मैंने जो कुछ किया है; **स्मर**—कृपया स्मरण करें; **क्रतो**—हे परम भोक्ता; **स्मर**—कृपया स्मरण करें; **कृतम्**—जो कुछ मैंने आपके लिए किया; **स्मर**—कृपया स्मरण करें।

अनुवाद

इस क्षणभंगुर शरीर को भस्म हो जाने दें और प्राणवायु को वायु के पूर्णकोष में विलय हो जाने दें। अब हे भगवन्, मेरे समस्त यज्ञों का स्मरण करें और चूँकि आप चरम भोक्ता हैं, अतएव मैंने आपके लिए जो कुछ किया है, उसे स्मरण करें।

तात्पर्य

यह क्षणभंगुर शरीर निश्चय ही पराया वस्त्र है। *भगवद्गीता* (२.२०) में स्पष्ट कहा गया है कि इस भौतिक शरीर के नष्ट हो जाने पर जीवात्मा नष्ट नहीं होता, न ही वह अपनी पहचान खो देता है। जीवात्मा का रूप कभी निराकार या निर्विशेष नहीं होता, प्रत्युत जो भौतिक वेश है, वह आकारहीन होता है और वह अविनाशी

व्यक्ति के रूप के अनुसार आकार ग्रहण करता है। कोई भी जीव मूलतः निराकार नहीं है, जैसाकि कम बुद्धि वाले लोग गलती से मानते हैं। यह मंत्र इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भौतिक शरीर के विनष्ट होने के बाद भी जीव का अस्तित्व बना रहता है।

इस भौतिक जगत में भौतिक प्रकृति जीवों को उनकी इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्तियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के शरीर प्रदान करके अद्भुत कार्यकुशलता का प्रदर्शन करती है। जो जीव मल का स्वाद लेना चाहता है, उसे ऐसा शरीर प्रदान किया जाता है, जो मल खाने के लिए सर्वथा उपयुक्त हो—जैसे कि शूकर का शरीर। इसी तरह, जो दूसरे पशुओं का मांस खाना और रक्त पीना चाहता है, उसे उपयुक्त दातों और पंजों से युक्त बाघ का शरीर प्रदान किया जाता है। किन्तु मनुष्य न ही मांस खाने के निमित्त बना है, न ही वह मल का स्वाद लेना चाहता है, चाहे वह निपट आदिम अवस्था में ही क्यों न हो। मनुष्य के दाँत इस तरह बनाये गए हैं कि वे फल तथा शाक को काटकर चबा सकें। यद्यपि उसे दो कुकरदाढ़ प्रदान की गई हैं, जिससे आदिम अवस्था के मनुष्य, यदि चाहें, तो मांस खा सकें।

किन्तु कुछ भी हो, समस्त पशुओं तथा मनुष्यों के भौतिक शरीर जीव के लिए अस्वाभाविक हैं। वे जीव की इन्द्रियतृप्ति की इच्छा के अनुसार बदलते रहते हैं। विकास-क्रम के चक्र में जीव एक शरीर बदलकर दूसरा शरीर ग्रहण करता है। जब यह संसार जलमग्न था, तो जीव ने जलीय रूप (जलचर योनि) धारण किया। फिर वह शाक-जीवन में गया और उसे पार करके कीट-जीवाणु में आया; फिर कीट से पक्षी जीवन में, पक्षी से पशु जीवन में और

पशु जीवन से मनुष्य जीवन में आया। यह मनुष्य रूप जब आध्यात्मिक ज्ञान की चेतना से पूर्ण हो जाता है, तो यह उसका सर्वाधिक विकसित रूप होता है। इस मंत्र में मनुष्य की इस आध्यात्मिक चेतना का सर्वाधिक विकसित रूप वर्णित है। मनुष्य को इस भौतिक शरीर का त्याग करना चाहिए, जो जलकर राख हो जाएगा और प्राणवायु को शाश्वत वायु तत्त्व में मिल जाने देना चाहिए। जीव के सारे कार्यकलाप शरीर के भीतर विविध प्रकार की वायु के परिभ्रमण से सम्पन्न होते हैं, जिन्हें संक्षिप्त रूप में प्राणवायु कहते हैं। योगीजन सामान्यतः शरीर में वायु को वश में करने का अध्ययन करते हैं। आत्मा को एक वायुचक्र से उठकर एक अन्य वायुचक्र तक उठना होता है, जब तक कि वह सर्वोच्च चक्र ब्रह्मरन्ध्र में नहीं पहुँच जाता। इस बिन्दु से पूर्ण योगी अपने आपको अन्य किसी इच्छित लोक तक ले जा सकता है। इसकी विधि यह है कि एक भौतिक शरीर त्यागकर दूसरे में प्रवेश किया जाए, लेकिन ऐसे रूपान्तर की पूर्णता तभी सम्भव है, जब जीव अपने इस भौतिक शरीर का सर्वथा परित्याग कर सके और जैसाकि इस मंत्र में सुझाव दिया गया है, आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश कर सके, जहाँ वह सर्वथा भिन्न प्रकार का शरीर विकसित कर सकता है—एक आध्यात्मिक शरीर जिसकी न तो कभी मृत्यु होती है, न कोई परिवर्तन।

यहाँ इस भौतिक जगत में भौतिक प्रकृति जीव को उसकी इन्द्रियतृप्ति की विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिए शरीर बदलने के लिए बाध्य करती है। ये इच्छाएँ विभिन्न योनियों के रूप में प्रकट होती हैं—एक कीड़े से लेकर सर्वाधिक श्रेष्ठ देहधारी ब्रह्मा तथा

देवताओं के शरीरों के रूप में। इन सभी जीवों के शरीर विभिन्न आकारों में जड़ पदार्थ से बने होते हैं। बुद्धिमान मनुष्य इन शरीरों की विविधता में नहीं अपितु इनके आध्यात्मिक स्वरूप में एकत्व देखता है। वह आध्यात्मिक स्फुलिंग, जो परमेश्वर का अंश है, एक ही है चाहे वह शूकर के शरीर में हो या देवता के शरीर में। जीव अपने पाप तथा पुण्य कर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर धारण करता है। मनुष्य शरीर सर्वाधिक विकसित है और पूर्ण चेतना से युक्त है। *भगवद्गीता* (७.१९) के अनुसार अनेकानेक जन्मों तक ज्ञान का अनुशीलन करने के बाद सर्वाधिक श्रेष्ठ मनुष्य भगवान् की शरण ग्रहण करता है। ज्ञान का अनुशीलन अपनी पूर्णता को तब प्राप्त होता है जब ज्ञाता परमेश्वर वासुदेव की शरण ग्रहण करता है। अन्यथा, अपने आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी यदि वह यह नहीं जान पाता कि सारे जीव उन पूर्ण के शाश्वत अंश हैं और वे स्वयं कभी भी पूर्ण नहीं बन सकते, तो उसका इस भौतिक संसार में पुनः पतन होता है। उसे सचमुच गिरना ही पड़ेगा, भले ही वह ब्रह्मज्योति से एकाकार क्यों न हो चुका हो।

जैसाकि हमने पिछले मंत्रों से जाना है, भगवान् के दिव्य शरीर से उद्भूत होने वाली ब्रह्मज्योति आध्यात्मिक स्फुलिंगों से परिपूर्ण है, जिन्हें अस्तित्व के *सत्* पहलू का पूर्ण साक्षात्कार हो चुका है। कभी-कभी ये जीव इन्द्रियों का भोग करना चाहते हैं, अतएव उन्हें भौतिक जगत में स्थानांतरित कर दिया जाता है, जिससे वे अपनी इन्द्रियों के आदेशानुसार मिथ्या स्वामी बन सकें। स्वामी बनने की इच्छा जीवों का भौतिक रोग है, क्योंकि जीव इन्द्रियभोग के वशीभूत होकर इस जगत में विभिन्न शरीरों में देहान्तर करता रहता

है। ब्रह्मज्योति से एकाकार होना परिपक्व ज्ञान का प्रतीक नहीं है। केवल भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करने तथा आध्यात्मिक सेवाभाव विकसित करने पर ही कोई सर्वोच्च पूर्णता के स्तर को प्राप्त कर सकता है।

इस मंत्र में जीव अपने भौतिक शरीर तथा भौतिक वायु को त्यागकर ईश्वर के आध्यात्मिक साम्राज्य में प्रवेश करने के लिए प्रार्थना करता है। भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि वे उसके उन कार्यकलापों तथा यज्ञों को स्मरण करें, जिन्हें उसने अपने भौतिक शरीर के भस्म होने के पूर्व सम्पन्न किया था। यह प्रार्थना वह मृत्यु के समय अपने विगत कर्मों तथा अपने चरम लक्ष्य की पूर्ण चेतना रहते हुए करता है। जो व्यक्ति पूर्णरूपेण भौतिक प्रकृति के वश में रहता है, वह अपने भौतिक शरीर के अस्तित्व-काल के सारे जघन्य कार्यों का स्मरण करता है और उसके फलस्वरूप मृत्यु के बाद वह दूसरा शरीर पाता है। *भगवद्गीता* (८.६) में इस सत्य की पुष्टि हुई है :

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

"हे कुन्तीपुत्र, जब मनुष्य शरीर त्याग करता है, तो वह अपने अस्तित्व की जिस दशा का स्मरण करता है, वह उसे निश्चय ही प्राप्त होती है।" इस तरह मन मरने वाले जीव की प्रवृत्तियों को अगले जीवन में ले जाता है।

अविकसित बुद्धि वाले सीधे-सादे पशुओं के विपरीत मरणासन्न मनुष्य अपने जीवन के कार्यकलापों को रात्रि के स्वप्नों की तरह स्मरण कर सकता है; फलतः उसका मन भौतिक इच्छाओं

देवताओं के शरीरों के रूप में। इन सभी जीवों के शरीर विभिन्न आकारों में जड़ पदार्थ से बने होते हैं। बुद्धिमान मनुष्य इन शरीरों की विविधता में नहीं अपितु इनके आध्यात्मिक स्वरूप में एकत्व देखता है। वह आध्यात्मिक स्फुलिंग, जो परमेश्वर का अंश है, एक ही है चाहे वह शूकर के शरीर में हो या देवता के शरीर में। जीव अपने पाप तथा पुण्य कर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर धारण करता है। मनुष्य शरीर सर्वाधिक विकसित है और पूर्ण चेतना से युक्त है। *भगवद्गीता* (७.१९) के अनुसार अनेकानेक जन्मों तक ज्ञान का अनुशीलन करने के बाद सर्वाधिक श्रेष्ठ मनुष्य भगवान् की शरण ग्रहण करता है। ज्ञान का अनुशीलन अपनी पूर्णता को तब प्राप्त होता है जब ज्ञाता परमेश्वर वासुदेव की शरण ग्रहण करता है। अन्यथा, अपने आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी यदि वह यह नहीं जान पाता कि सारे जीव उन पूर्ण के शाश्वत अंश हैं और वे स्वयं कभी भी पूर्ण नहीं बन सकते, तो उसका इस भौतिक संसार में पुनः पतन होता है। उसे सचमुच गिरना ही पड़ेगा, भले ही वह ब्रह्मज्योति से एकाकार क्यों न हो चुका हो।

जैसाकि हमने पिछले मंत्रों से जाना है, भगवान् के दिव्य शरीर से उद्भूत होने वाली ब्रह्मज्योति आध्यात्मिक स्फुलिंगों से परिपूर्ण है, जिन्हें अस्तित्व के *सत्* पहलू का पूर्ण साक्षात्कार हो चुका है। कभी-कभी ये जीव इन्द्रियों का भोग करना चाहते हैं, अतएव उन्हें भौतिक जगत में स्थानांतरित कर दिया जाता है, जिससे वे अपनी इन्द्रियों के आदेशानुसार मिथ्या स्वामी बन सकें। स्वामी बनने की इच्छा जीवों का भौतिक रोग है, क्योंकि जीव इन्द्रियभोग के वशीभूत होकर इस जगत में विभिन्न शरीरों में देहान्तर करता रहता है। ब्रह्मज्योति से एकाकार होना परिपक्व ज्ञान का प्रतीक नहीं है। केवल भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करने तथा आध्यात्मिक सेवाभाव विकसित करने पर ही कोई सर्वोच्च पूर्णता के स्तर को प्राप्त कर सकता है।

इस मंत्र में जीव अपने भौतिक शरीर तथा भौतिक वायु को त्यागकर ईश्वर के आध्यात्मिक साम्राज्य में प्रवेश करने के लिए प्रार्थना करता है। भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि वे उसके उन कार्यकलापों तथा यज्ञों को स्मरण करें, जिन्हें उसने अपने भौतिक शरीर के भस्म होने के पूर्व सम्पन्न किया था। यह प्रार्थना वह मृत्यु के समय अपने विगत कर्मों तथा अपने चरम लक्ष्य की पूर्ण चेतना रहते हुए करता है। जो व्यक्ति पूर्णरूपेण भौतिक प्रकृति के वश में रहता है, वह अपने भौतिक शरीर के अस्तित्व-काल के सारे जघन्य कार्यों का स्मरण करता है और उसके फलस्वरूप मृत्यु के बाद वह दूसरा शरीर पाता है। *भगवद्गीता* (८.६) में इस सत्य की पुष्टि हुई है :

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

"हे कुन्तीपुत्र, जब मनुष्य शरीर त्याग करता है, तो वह अपने अस्तित्व की जिस दशा का स्मरण करता है, वह उसे निश्चय ही प्राप्त होती है।" इस तरह मन मरने वाले जीव की प्रवृत्तियों को अगले जीवन में ले जाता है।

अविकसित बुद्धि वाले सीधे-सादे पशुओं के विपरीत मरणासन्न मनुष्य अपने जीवन के कार्यकलापों को रात्रि के स्वप्नों की तरह स्मरण कर सकता है; फलतः उसका मन भौतिक इच्छाओं

से अधिभारित रहता है; अतएव वह आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करके आध्यात्मिक जगत में प्रवेश नहीं कर सकता। किन्तु भक्तगण भगवद्भक्ति के अभ्यास से ईश्वर के प्रति प्रेमभाव विकसित कर लेते हैं। यदि भक्त को अपनी मृत्यु के समय ईश्वर की सेवा का स्मरण नहीं भी हो पाता, तो भी भगवान् उसे नहीं भूलते। यह प्रार्थना भगवान् को भक्त के यज्ञों का स्मरण कराने के लिए की जाती है, किन्तु यदि इस प्रकार से स्मरण न भी कराया जाए, तो भी भगवान् अपने शुद्ध भक्त द्वारा की गई भक्तिमय सेवा को नहीं भूलते।

भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.३०-३४) में अपने भक्तों के साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध का स्पष्ट वर्णन किया है, "यदि कोई अत्यधिक घृणित कर्म भी करे, किन्तु यदि वह भक्तिमय सेवा में प्रवृत्त रहे, तो भी उसे साधु सदृश माना जाना चाहिए, क्योंकि वह अपने संकल्प में ठीक तरह दृढ़ बना हुआ है। वह तुरन्त सदाचारी बन जाता है और चिरशान्ति प्राप्त करता है। हे कुन्तीपुत्र, निर्भीक होकर घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। हे पार्थ, जो मेरी शरण में आते हैं, चाहे वे निम्न-जन्मा—स्त्री, वैश्य तथा शूद्र (श्रमिक)—क्यों न हों, वे परम गन्तव्य को प्राप्त कर सकते हैं। फिर पुण्यात्मा ब्राह्मणों, भक्तों तथा राजर्षियों के विषय में क्या कहना? इसलिए इस दुखमय नश्वर संसार में आने के पश्चात् तुम मेरी प्रेममयी सेवा में लगे रहो। अपना मन सदैव मेरे चिन्तन में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे नमस्कार करो और मेरी पूजा करो। इस प्रकार मुझमें पूर्णतया लीन रहने पर तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे।"

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर इन श्लोकों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—"मनुष्य को कृष्ण के भक्तों को सन्तों के सही मार्ग पर स्थित समझना चाहिए, भले ही ऐसा भक्त *सुदुराचार* अर्थात् दुश्चरित्र वाला क्यों न प्रतीत होता हो। मनुष्य को चाहिए कि *दुश्चरित्र* का सही अर्थ ठीक से समझे। बद्धजीव को दो प्रकार के कार्य करने होते हैं—एक तो शरीर के पालन के लिए तथा दूसरे आत्म-साक्षात्कार के लिए। सामाजिक पद, मानसिक विकास, स्वच्छता, तपस्या, भोजन (पोषण) तथा जीवन-संघर्ष—ये सब शरीर के पालन के लिए हैं। मनुष्य के कार्यकलापों का उस भाग, जो आत्म-साक्षात्कार के लिए किया जाता है, वह उसके भक्त होने के कर्तव्य के अन्तर्गत सम्पन्न होता है और इसके लिए मनुष्य को तत्सम्बन्धी कार्य भी करने होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को ये दोनों विभिन्न कार्य साथ-साथ सम्पन्न करने होते हैं, क्योंकि बद्धजीव अपने शरीर का पालन नहीं त्याग सकता। लेकिन ज्यों-ज्यों भक्ति में वृद्धि होती है, त्यों-त्यों शरीर पालन के लिए किए जाने वाले कार्य घटने लगते हैं। जब तक भक्ति का अनुपात सही बिन्दु तक नहीं पहुँच जाता, तब तक यदा-कदा सांसारिकता का प्रदर्शन हो ही जाता है। लेकिन इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ऐसी सांसारिकता अधिक काल तक नहीं चल पाती, क्योंकि भगवत्कृपा से ऐसी अपूर्णताएँ शीघ्र ही समाप्त हो जाती हैं। अतएव भक्तिमय सेवा का मार्ग ही एकमात्र सही मार्ग है। यदि मनुष्य सही मार्ग पर रहे, तो यदा-कदा सांसारिकता के आ जाने पर भी आत्म-साक्षात्कार की प्रगति में रुकावट नहीं आती।"

भक्ति की सुविधाएँ निर्विशेषवादियों को नहीं मिल पाती,

क्योंकि वे भगवान् के ब्रह्मज्योति पक्ष के प्रति अनुरक्त रहते हैं। जैसाकि पिछले मंत्र में सुझाया गया है, वे ब्रह्मज्योति को बेध नहीं पाते, क्योंकि वे भगवान् के व्यक्तित्व में विश्वास नहीं करते। उनका व्यवसाय अधिकतर शब्दों की जादूगरी तथा मानसिक तर्कवितर्क करना होता है। फलस्वरूप निर्विशेषवादी निरर्थक श्रम करते हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* के बारहवें अध्याय (१२.५) में पुष्टि की गई है।

इस मंत्र में प्रस्तावित सारी सुविधाएँ परम सत्य के साकार स्वरूप के निरन्तर सान्निध्य द्वारा आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं। भगवान् की भक्तिमय सेवा अनिवार्यतः भक्त द्वारा सम्पन्न नौ दिव्य क्रियाओं से युक्त होती है (१) भगवान् के विषय में श्रवण, (२) भगवान् का गुणगान करना (कीर्तन), (३) भगवान् का स्मरण करना, (४) भगवान् के चरणकमलों की सेवा करना (पाद सेवन), (५) भगवान् की अर्चना करना, (६) भगवान् की प्रार्थना करना, (७) भगवान् की सेवा करना (दास्यम), (८) भगवान् के साथ सख्य भाव का आनन्द लेना तथा, (९) भगवान् को सर्वस्व समर्पण करना (आत्म निवेदन)। भक्ति के ये नौ सिद्धान्त, चाहे एक एक करके लिए जाएँ या सभी इकट्ठे लिए जाएँ, भक्त को ईश्वर के नित्य सम्पर्क में बने रहने में सहायक बनते हैं। इस प्रकार जीवन के अन्त में भक्त भगवान् का स्मरण आसानी से कर सकता है। इन नौ सिद्धान्तों में से किसी एक को ग्रहण करके निम्नलिखित सुविख्यात भक्तों ने सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की थी—(१) महाराज परीक्षित ने, जो *श्रीमद्भागवत* के नायक हैं, श्रवण द्वारा वांछित फल प्राप्त किया। (२) *श्रीमद्भागवत* के वक्ता शुकदेव गोस्वामी ने

भगवान् के गुणगान द्वारा पूर्णता प्राप्त की। (३) अक्रूरजी ने प्रार्थना करके वांछित फल पाया। (४) प्रह्लाद महाराज ने स्मरण द्वारा मनोवांछित फल पाया। (५) पृथु महाराज ने अर्चना द्वारा सिद्धि प्राप्त की। (६) लक्ष्मीजी ने भगवान् के चरणकमलों की सेवा करके सिद्धि पाई। (७) हनुमानजी ने भगवान् की निजी सेवा करके वांछित फल प्राप्त किया। (८) अर्जुन ने भगवान् की मित्रता द्वारा वांछित फल पाया। (९) महाराज बलि ने भगवान् को अपना सर्वस्व अर्पित करके वांछित फल प्राप्त किया।

वास्तव में इस मंत्र की तथा एक तरह से वैदिक स्तोत्रों के समस्त मंत्रों की व्याख्या वेदान्तसूत्र में सारबद्ध है और *श्रीमद्भागवत* में समुचित ढंग से विवेचित है। *श्रीमद्भागवत* वैदिक ज्ञान रूपी वृक्ष का परिपक्व फल है। *श्रीमद्भागवत* में यह मंत्रविशेष महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी की भेंट के प्रारम्भ में ही पारस्परिक प्रश्नोत्तर में विवेचित हुआ है। भगवद्विज्ञान का श्रवण तथा कीर्तन भक्ति का मूल सिद्धान्त है। महाराज परीक्षित ने सम्पूर्ण भागवत सुनी और शुकदेव गोस्वामी ने सुनाई। महाराज परीक्षित ने शुकदेव से जिज्ञासा की, क्योंकि वे अपने समय के किसी भी महान् योगी या अध्यात्मवादी से बड़े गुरु थे।

महाराज परीक्षित का मुख्य प्रश्न था—"प्रत्येक मनुष्य का, विशेषतया मृत्यु के समय, क्या कर्तव्य है?" शुकदेव गोस्वामी ने इसका उत्तर इन शब्दों में दिया :

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥

"जो समस्त चिन्ताओं से मुक्त होने का इच्छुक है, ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में सुने, उनका गुणगान करे और उनका स्मरण करे क्योंकि भगवान् सभी वस्तुओं के परम निर्देशक, समस्त कष्टों को हरने वाले तथा समस्त जीवों के परमात्मा हैं।" (भागवत २.१.५)

तथाकथित मानव समाज सामान्यत: रात्रि में सोने तथा संभोग करने में और दिन में यथासम्भव अधिकाधिक धन कमाने या परिवार के पालनार्थ वस्तुएँ खरीदने में लगा रहता है। लोगों के पास पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में बातें करने या उनके विषय में जिज्ञासा करने के लिए बहुत कम समय रहता है। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को कई प्रकार से नकार रखा है, जिनमें मुख्य है—उन्हें निर्विशेष घोषित करना अर्थात् उन्हें इन्द्रियबोधरहित बताना। किन्तु वैदिक साहित्य में, चाहे वह उपनिषद्, वेदान्तसूत्र हो या *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* हो, यह घोषित किया गया है कि भगवान् सचेतन हैं और अन्य सभी जीवों से श्रेष्ठ हैं। उनकी महिमामय लीलाएं उनसे अभिन्न हैं। अतएव मनुष्य को संसारी राजनीतिज्ञों एवं समाज के तथाकथित बड़े-बड़े लोगों के अनुचित कार्यों के बारे में सुनने तथा बोलने में लिप्त नहीं होना चाहिए, अपितु जीवन को इस तरह ढालना चाहिए कि एक पल भी व्यर्थ गँवाये बिना वह दैवी कार्यकलापों में लगा रह सके। *श्रीईशोपनिषद्* हमें ऐसे दैवी कार्यकलापों की ओर निर्देशित करता है।

यदि कोई भक्ति का अभ्यस्त नहीं हो जाता, तो वह मृत्यु के समय क्या स्मरण कर पाएगा, जब शरीर छिन्न-भिन्न हुआ रहता है और वह किस तरह परम शक्तिशाली भगवान् से अपने यज्ञों का

स्मरण करने के लिए प्रार्थना कर सकेगा? यज्ञ का अर्थ है, इन्द्रियों को उनके स्वार्थ से रोकना। मनुष्य को अपने जीवन काल के दौरान इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाकर इस कला को सीखना होता है। मनुष्य मृत्यु के समय ऐसे अभ्यास के फलों का सदुपयोग कर सकता है। •

मंत्र अठारह

**अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥ १८॥**

अग्ने—हे अग्नि के समान शक्तिशाली भगवान्; **नय**—कृपया ले चलें; **सुपथा**—सही मार्ग से; **राये**—अपने पास तक पहुँचने के लिए; **अस्मान्**—हमें; **विश्वानि**—समस्त; **देव**—हे भगवान्; **वयुनानि**—कर्मों को; **विद्वान्**—जानने वाला, ज्ञाता; **युयोधि**—कृपया हटाइए; **अस्मत्**—हमसे; **जुहुराणम्**—मार्ग के सारे अवरोधों को; **एनः**—सारी बुराइयाँ; **भूयिष्ठाम्**—अत्यधिक; **ते**—आपको; **नमः उक्तिम्**—नमस्कार के वचन; **विधेम**—मैं करता हूँ।

अनुवाद

हे अग्नि के समान शक्तिशाली भगवान्, हे सर्वशक्तिमान, अब मैं आपके चरणों में दण्डवत् प्रणाम करता हूँ। हे भगवन्, आप अपने तक पहुँचने के लिए मुझे सही मार्ग पर ले चलें और चूँकि आप मेरे द्वारा भूतकाल में किया गया सब कुछ जानते हैं, अतएव मुझे विगत पापों के फलों से मुक्त कर दें, जिससे मेरी प्रगति में कोई अवरोध न आए।

तात्पर्य

भगवान् की शरण ग्रहण करने तथा उनकी अहैतुकी कृपा के लिए प्रार्थना करने से भक्त पूर्ण आत्म-साक्षात्कार के पथ पर प्रगति

कर सकता है। भगवान् को अग्नि के रूप में सम्बोधित किया गया है, क्योंकि वे किसी भी वस्तु को भस्म कर सकते हैं, जिसमें शरणागत व्यक्ति के पाप भी सम्मिलित हैं। जैसाकि पिछले मंत्रों में वर्णन हुआ है, उन परम का वास्तविक या चरम स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का है और उनकी निर्विशेष ब्रह्मज्योति उनके मुख के ऊपर का दीप्तिमान् आवरण है। इस प्रयास में आत्म-साक्षात्कार का कर्मकाण्ड पथ सबसे निम्न है। ऐसे कर्म वेदों की विधी-विधानों से लेशमात्र भी विचलित होने पर विकर्म में परिणत हो जाते हैं, अर्थात् ऐसे कर्म जो कर्ता के हित में नहीं होते। ऐसे विकर्म भ्रमित जीव द्वारा मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए किए जाते हैं; अतएव ऐसे कर्म आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में बाधक बनते हैं।

आत्म-साक्षात्कार मनुष्य योनि में ही सम्भव है, अन्य रूपों में नहीं। कुल मिलाकर ८४,००,००० योनियाँ या प्राणियों के रूप हैं, जिनमें से ब्राह्मण संस्कृति से युक्त मानव शरीर ही अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र अवसर प्रदान करता है। ब्राह्मण संस्कृति में सत्य, इन्द्रियसंयम, सहिष्णुता, सरलता, पूर्ण ज्ञान तथा ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा सम्मिलित हैं। ऐसा नहीं है कि कोई केवल अपने उच्च कुल का गर्व करे। जिस प्रकार किसी बड़े आदमी का पुत्र होने से बड़ा आदमी बनने का एक अवसर मिलता है, उसी प्रकार ब्राह्मण का पुत्र होना ब्राह्मण बनने का एक सुअवसर है। किन्तु ऐसा जन्म-अधिकार सब कुछ नहीं होता, क्योंकि मनुष्य को तब भी अपने लिए ब्राह्मण की योग्यताएँ प्राप्त करनी होती हैं। ज्योंही मनुष्य ब्राह्मण का पुत्र होने के कारण अपने जन्म पर गर्व करता है, किन्तु वास्तविक ब्राह्मण के गुणों को प्राप्त करने की उपेक्षा करता है,

त्योंही वह विपथ हो जाता है और आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से पतित हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य के रूप में उसका जीवन-उद्देश्य विफल हो जाता है।

भगवद्गीता (६.४१-४२) में हमें भगवान् आश्वस्त करते हैं कि आत्म-साक्षात्कार के पथ से पतित अर्थात् योगभ्रष्ट आत्माओं को या तो अच्छे ब्राह्मण परिवारों में या धनी व्यापारियों के परिवारों में जन्म लेकर अपना सुधार करने का अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसे जन्मों से आत्म-साक्षात्कार के उच्च अवसर प्रदान किए जाते हैं। यदि मोहवश इन अवसरों का दुरुपयोग किया जाता है, तो मनुष्य परम शक्तिमान भगवान् द्वारा प्रदत्त मानव जीवन के सुनहरे अवसर को खो देता है।

विधि विधान ऐसे हैं कि जो इनका पालन करता है, वह सकाम कर्मों के स्तर से उन्नति कर दिव्य ज्ञान के स्तर को प्राप्त करता है। अनेकानेक जन्मों तक दिव्य ज्ञान का अनुशीलन कर लेने पर जब मनुष्य भगवान् की शरण ग्रहण करता है, तभी वह पूर्ण बनता है। यह सामान्य प्रक्रिया है। किन्तु यदि कोई प्रारम्भ में ही शरण ग्रहण कर लेता है, जैसी कि इस मंत्र में संस्तुति की गई है, तो वह भक्तिमयी प्रवृत्ति ग्रहण करते ही समस्त प्रारम्भिक अवस्थाओं को पार कर लेता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहा गया है, भगवान् तुरन्त ऐसे शरणागत जीव का भार अपने ऊपर ले लेते हैं और उसे उसके सभी पापकर्मों के फलों से मुक्त कर देते हैं। कर्मकाण्ड में अनेक पाप निहित हैं, जबकि ज्ञानकाण्ड में ऐसे पापकर्मों की संख्या कम है, किन्तु भगवद्भक्ति या भक्ति-पथ में किसी प्रकार के पाप होने की सम्भावना नहीं रहती। भगवद्भक्त भगवान् के सारे शुभ गुणों को प्राप्त कर लेता है, तो ब्राह्मण के गुणों के विषय में क्या कहा जाए? भक्त स्वतः एक दक्ष ब्राह्मण के गुण प्राप्त करके यज्ञ सम्पन्न करने का अधिकारी हो जाता है, भले ही उसका जन्म ब्राह्मण कुल में न हुआ हो। ऐसा है भगवान् का सामर्थ्य। वे ब्राह्मण कुल में जन्मे व्यक्ति को निम्नकुल-जन्मा चांडाल बना सकते हैं और चांडाल को भक्तिमय सेवा के बल पर योग्य ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ बना सकते हैं।

चूँकि सर्वशक्तिमान भगवान् सबके हृदय में स्थित हैं, अतः वे अपने निष्ठावान भक्तों को निर्देश दे सकते हैं, जिससे वे सही मार्ग पा सकते हैं। ऐसे निर्देश विशेषतः भक्त को दिये जाते हैं, भले ही वह कुछ अन्य चीज की इच्छा कर रहा हो। जहाँ तक अन्यों का सम्बन्ध है, ईश्वर किसी कर्ता को उसके ही अपने उत्तरदायित्व पर अनुमति देते हैं, किन्तु भक्त को भगवान् इस तरह निर्देश देते हैं कि वह कभी त्रुटि नहीं करता। *श्रीमद्भागवत* (११.५.४२) में कहा गया है :

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

"भगवान् अपने पूर्ण शरणागत भक्त के प्रति इतने दयालु हैं कि यद्यपि भक्त कभी-कभी विकर्म अर्थात् वैदिक आदेशों के विरुद्ध कर्म के बन्धन में आ गिरता है, तो भी वे भक्त के हृदय के भीतर से त्रुटियों को तुरन्त ठीक कर देते हैं। इसका कारण यह है कि भक्त भगवान् को अत्यधिक प्रिय हैं।"

श्रीईशोपनिषद के इस मंत्र में भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि वे उसके हृदय के भीतर से उसे सुधारें। त्रुटि करना मनुष्य का सहज गुण है। बद्धजीव प्रायः त्रुटि करता रहता है और ऐसे अनचाहे पापों का एकमात्र उपचार यही है कि भगवान् के चरणकमलों में समर्पित हुआ जाए, जिससे वे इनसे बचने हेतु मार्गदर्शन करते रहें। भगवान् पूर्ण-शरणागतों का भार अपने ऊपर लेते हैं। इस तरह सारी समस्याएँ भगवान् की शरण ग्रहण करने एवं उनके निर्देशानुसार कार्य करने मात्र से ही हल हो जाती हैं। ऐसे निर्देश निष्ठावान भक्त को दो प्रकार से दिए जाते हैं। पहला साधु, शास्त्रों तथा गुरु के द्वारा तथा दूसरा स्वयं भगवान् द्वारा, जो हर एक के हृदय में निवास करते हैं। इस तरह वैदिक ज्ञान से प्रबुद्ध भक्त सभी प्रकार से सुरक्षित रहता है।

वैदिक ज्ञान दिव्य है, अतः संसारी शैक्षिक पद्धतियों से नहीं समझा जा सकता। केवल भगवान् तथा गुरु की कृपा से ही मनुष्य वैदिक मंत्रों को समझ सकता है (*यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ*)। यदि मनुष्य प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण कर लेता है, तो समझना चाहिए कि उसे भगवद्कृपा प्राप्त हो गई है। भगवान् भक्त के लिए गुरु रूप में प्रकट होते हैं। इस तरह गुरु, वैदिक आदेश तथा भीतर से स्वयं भगवान् भक्त का पूरे सामर्थ्य से मार्गदर्शन करते हैं। इससे भक्त के भौतिक मोह की माया में पुनः पतन की कोई सम्भावना नहीं रहती। इस तरह चारों ओर से संरक्षित भक्त पूर्ण सिद्धि के चरम लक्ष्य तक निश्चित रूप से पहुँचता है। इस मंत्र में इस सम्पूर्ण विधि का संकेत दिया गया है और *श्रीमद्भागवत* (१.२.१७-२०) में इसकी और व्याख्या हुई है।

भगवान् के यश का श्रवण तथा कीर्तन स्वयं ही एक पुण्य कार्य है। भगवान् चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उनके गुणों का श्रवण तथा कीर्तन करे, क्योंकि वे समस्त जीवों के हितैषी हैं। भगवान् के यश के श्रवण तथा कीर्तन से मनुष्य समस्त अवांछित वस्तुओं से शुद्ध हो जाता है और तब ईश्वर के प्रति उसकी भक्ति स्थिर हो जाती है। इस अवस्था में भक्त में ब्राह्मण गुण आ जाते हैं और प्रकृति के अधम गुणों (रजो तथा तमो) का प्रभाव पूर्णतया लुप्त हो जाता है। भक्त अपनी भक्तिमय सेवा के बल पर पूर्णतया प्रबुद्ध हो जाता है और इस प्रकार वह भगवान् के पथ को तथा उनको प्राप्त करने की पद्धति को जान लेता है। ज्यों-ज्यों सारे संशय घटते जाते हैं, त्यों-त्यों वह शुद्ध भक्त बनता जाता है।

इस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के निकट लाने वाले ज्ञान *श्रीईशोपनिषद्* के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए। •

लेखक-परिचय

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ६९ वर्ष की अवस्था में सन १९६५ में अपने गुरु महाराज के आदेशानुसार अंग्रेजी भाषी विश्व में कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के लिए अमेरिका गये। बारह वर्षों की अल्प अवधि में उन्होंने वैदिक साहित्य के अंग्रेजी अनुवाद और भाष्य के रूप में ५० से अधिक ग्रंथरत्न प्रस्तुत किये। उनके द्वारा अंग्रेजी में अनूदित वैदिक ग्रंथ उनकी अधिकृतता, गहराई व स्पष्टता के कारण विद्वत्समाज में सम्मानप्राप्त तथा विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों के उच्चस्तरीय पाठ्यक्रमों में मान्यताप्राप्त हैं। इसके साथ ही साथ कृष्णभावनामृत का प्रचार करने हेतु वे सम्पूर्ण विश्व में निरन्तर भ्रमण करते रहे। सन १९६६ में उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ की स्थापना न्यूयॉर्क में की। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ को अपने कुशल निर्देशन से सौ से अधिक मन्दिरों, आश्रमों, गुरुकुलों एवं कृषि-समुदायों का एक बृहद् संगठन बना दिया। सन् १९७७ में उन्होंने कृष्ण की प्रिय एवं पावन लीलाभूमि वृन्दावन में लौट कर इस धरा-धाम से प्रयाण किया। उनके शिष्यगण उनके द्वारा स्थापित आन्दोलन को आगे बढ़ाने में सतत प्रयत्नशील हैं।

सन्दर्भ

श्रीईशोपनिषद् के तात्पर्य प्रामाणिक वैदिक साहित्य के द्वारा प्रमाणित हैं। निम्नलिखित प्रामाणिक ग्रन्थों में से इस ग्रन्थ में सन्दर्भ दिये गये हैं। इनके पृष्ठ क्रमांक के लिए कृपया शब्द-सूची देखें।

अथर्व वेद
कठोपनिषद्
ऋग्वेद
गोपाल-तापनी उपनिषद्
ब्रह्म-संहिता
नारायणोपनिषद्
महाभारत
महाउपनिषद्
मोक्षधर्म
मुंडकोपनिषद्
भगवद्गीता
भक्तिरसामृतसिन्धु
वराह उपनिषद्
वेदान्त सूत्र
विष्णु पुराण
श्रीमद्भागवत
हरिभक्तिसुधोदय

विशिष्ट शब्दावलि

अकर्म—(नैष्कर्म): ऐसे कार्य जिनका प्रतिफल नहीं भुगतना पड़ता, क्योंकि ये कार्य कृष्णभावनामृत में किये जाते हैं और भौतिक इच्छाओं से रहित होते हैं। व्यक्ति जो इच्छारहित होता है।

अधिकारी—प्रथम श्रेणी का भक्त, जो वैदिक शास्त्रों में परांगत होता है और भगवान में पूर्ण श्रद्धा रखता है और जो पूरे जगत का उद्धार कर सकता है। संस्कृत भाषा के अनुसार भागवत शब्द का तात्पर्य है, भगवान कृष्ण का भक्त। एक महाभागवत महान् एवं उच्चकोटि का वैष्णव भक्त होता है।

अधीर—कृष्ण के प्रेम में आनन्दित होकर व्याकुल हो जाना।

अनन्त—असीमित।

अनुमान—कारण, विचार, दार्शनिक विचारधारधारा। वैष्णव प्रणाम में द्वितीय।

अपरा प्रकृति—भगवान् की निकृष्ट भौतिक शक्ति।

अपापविद्ध—शुद्ध एवं स्वच्छ।

अपौरुषेय—मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं (भगवान द्वारा प्रदत्त), वेदों के दिव्य उद्‌गम को बताने वाला पद।

अमर—मृत्युरहित। जिसकी कभी मृत्यु नहीं होती।

अर्चाविग्रह—भौतिक तत्त्वों से बनाया हुआ भगवान का प्रामाणिक स्वरूप जैसेकि मन्दिर अथवा घरों में पूजित कृष्ण की मूर्ति या चित्र, इस रूप में भगवान् वास्तव में उपस्थित होते हैं और भक्तों की पूजा का स्वीकार करते हैं।

अविद्या—अज्ञान, अन्धकार; परमेश्वर की भ्रामक शक्ति; अज्ञान या अवैदिक ज्ञान, जो अपरा विद्या तथा परा विद्या के नाम से जानी जाती है।

अव्यक्त—अप्रकट; भौतिक सृष्टि, जब वह महत्‌तत्त्व से व्यक्त नहीं हुई है।

असुर—राक्षस, जो वेदों में वर्णित सिद्धान्तों (विधि-विधानों) का पालन नहीं करते, नास्तिक, भौतिकवादी। जो भगवान से ईर्ष्या करते हैं और जिनकी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान विष्णु एवं उनकी सेवा में कोई रुचि नहीं होती।

आचार्य—आध्यात्मिक गुरु जो स्वआचरण से शिक्षा देते हैं और जो समस्त मनुष्यों के लिए उचित आध्यात्मिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

आनन्द—आध्यात्मिक, दिव्य शुभेच्छा।

आत्मा—आत्मा (जो कभी शरीर, कभी आत्मा और कभी इन्द्रियों का निर्देश करता है। स्वयं (शरीर, मन, बुद्धि, परमात्मा, जीवात्मा)

आत्म-हा—आत्मा को मारने वाला।

आरोह—ज्ञान की अवरोही प्रक्रिया।

ईशावास्य—भगवान् से जुड़े तथ्य (धारणाएँ)।

उत्तम अधिकारी—प्रथम श्रेणी का भक्त, जो कि वैदिक शास्त्रों में निपुण होता है और जिसकी भगवान् में पूर्ण श्रद्धा होती है और जो सम्पूर्ण जगत को मुक्त कर सकता है।

कनिष्ठ अधिकारी—वैष्णव जगत में निम्नस्तरीय जिज्ञासु भक्त।

कर्म—(१) शास्त्र के विधि-विधानों का पालन करते हुए किया गया भौतिक कार्य।
(२) भौतिक शरीर की उन्नति के लिए किया

जाने वाला कार्य।
(३) ऐसा कोई भी भौतिक कार्य, जिसका फल बाद में भुगतना पड़ता है।
(४) सकाम कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त भौतिक प्रतिफल। यह संस्कृत शब्द कार्य या विशेष रुप से कोई भी भौतिक कार्य जिसके फल स्वरूप प्रतिफल प्राप्त होता है और जो हमें भौतिक संसार से बाँध देता है। कर्म के नियम के अनुसार यदि हम अन्य किसी जीवात्मा को कष्ट या पीड़ा देते हैं, तो हमें भी बदले में कष्ट तथा पीड़ा प्राप्त होती है। पाँच तत्त्वों में से एक या वैदिक तथ्यों के रूप में, क्रिया या कर्म जो जीवात्मा द्वारा कर्मेन्द्रियों की सहायता से किये जाते हैं और जो कर्मफल प्रदान करते हैं। आत्मा को विभिन्न योनियों में अर्थात् मनुष्य योनि में या उससे निम्न अथवा उच्च योनि में जन्म लेकर कर्म का प्रतिफल भुगतना पड़ता है। अथवा आत्मा जन्म-मृत्यु से मुक्त हो सकता है। यह तमोगुण, रजोगुण, सत्तोगुण और भक्ति में किये गये कर्म पर निर्भर करता है। वैदिक आदेशानुसार यज्ञ रूप में किये गये कर्म व्यक्ति के कर्म की गुणता को बढ़ा देते हैं। यज्ञ रूप में किया गया कर्म भगवान् कृष्ण की सेवा में परिणत होता है। ऐसा दिव्य कर्म "नैष्कर्म " कहलाता है।

कर्म-बन्धन—सकाम कर्मों के प्रतिफल की बद्धता।

कर्मयोग—भक्तिमय सेवा में किये गये कार्य। अपने कर्म फलों को भगवान को अर्पित कर, भगवान् के साक्षात्कार प्राप्ति का पथ।

कर्मी—सकाम कर्मी।

क्षत्रिय—वर्णाश्रम प्रणाली के चार विभागों में तीसरा विभाग। एक योद्धा जो कि युद्ध करता है और दूसरों का नेतृत्व करता है। चार सामाजिक और आध्यात्मिक विभाग द्वारा निर्धारित सुरक्षात्मक अथवा प्रबन्धात्मक कार्य।

गुरु—आध्यात्मिक गुरु; वैष्णव के तीन अधिकारियों में से एक। इसका तात्पर्य है भारी आध्यात्मिक गुरु ही गुरु कहे जाते हैं, क्योंकि वे ज्ञान से परिपूर्ण-भारी होते हैं।

चित्—जीवित और चेतन; व्यक्तिगत जीव; असीमित ज्ञान।

जीवशक्ति—जीवंत शक्ति, जीवात्मा।

ज्ञान—विद्या, भौतिक ज्ञान भौतिक शरीर तक ही सीमित होता है। दिव्य ज्ञान, आत्मा और पदार्थ के अन्तर को बताता है। पूर्ण ज्ञान शरीर, आत्मा और भगवान् का ज्ञान होता है।

त्रिपाद विभूति—आध्यात्मिक प्रकृति, जो कि भगवान् की शक्ति का तीन चौथाई हिस्सा है।

द्विज बन्धु—जो ब्राह्मण कुल में जन्म लेते हैं, लेकिन सम्यक् रूप से ब्राह्मण बनने योग्य नहीं होते।

धीर—वह व्यक्ति जो किसी भी अवस्था में भौतिक शक्ति से विचलित नहीं होता। कृष्ण के प्रति प्राप्त प्रेम का आनन्द।

नराधम—अधम मनुष्य। वे व्यक्ति जो सामाजिक एवं राजनैतिक रूप से विकसित हैं, लेकिन उनके कोई धार्मिक सिद्धान्त नहीं होते।

निर्गुण—भौतिक गुणों से रहित। भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से अप्रभावित।

नैष्कर्म—अकर्म के लिए अन्य पद। ऐसे कर्म जिनका फल नहीं भुगतना पड़ता, क्योंकि वे कृष्णभावनामृत में किये जाते हैं।

परब्रह्म—परम ब्रह्म, परम भगवान् श्रीकृष्ण।

परम्परा—गुरु-शिष्य परम्परा जिसके द्वारा प्रामाणिक गुरु के द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ है, एक के बाद एक। यह एक आध्यात्मिक गुरु और उनके शिष्य की परम्परा का निर्देश करता है, जिसमें शिष्य बाद में गुरु बनता है। इसका प्रारम्भ कृष्ण से होता है, जिनके शिष्य

ब्रह्मा थे, जब यह सृष्टि की रचना हुई थी।

परा प्रकृति—उच्चतर, भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति या प्रकृति।

पिता—पूर्वज, विशेषतया वे पूर्वज जो उच्च ग्रहों पर भेजे जाते हैं।

प्रत्यक्ष—इन्द्रियों द्वारा सीधा अनुभव (१) वैदिक ज्ञान के पाँच स्तरों में से प्रथम स्तर। सहायक के रूप में, स्वयं-सिद्ध नहीं, ज्ञान का प्रमाण (२) तीन वैष्णव प्रमाणों में पहला प्रणाम।

प्रसाद या प्रसादम्—"भगवान् की कृपा।" कृष्ण की प्रसन्नता के लिए बनाया गया भोजन, जो उन्हें प्रेम एवं भक्ति से प्रदान किया जाता है। क्योंकि कृष्ण उन्हें स्वीकार करते हैं, अत: वह आध्यात्मिकतामय बन जाता है और जो उसे ग्रहण करता है, उसे शुद्ध करता है। जब सात्विक भोजन (दूध, अनाज, फल, सब्जी, शक्कर और फलों का रस) भक्त द्वारा बनाकर भगवान् कृष्ण के विग्रह को भक्तियोग के नियमों के अनुसार अर्पित किया जाता है, तब यह अर्पण प्रसाद अर्थात् भगवान की कृपा बन जाता है। प्रसाद स्वादिष्ट और पौष्टिक होता है, साथ ही अत्यन्त दिव्य होता है। सामान्य भोजन जो कृष्ण को अर्पित नहीं किया जाता, उसे खाने से वह कर्म फल का कारण बन जाता है, क्योंकि उसे बनाते समय कई जीवात्मा अपने प्राण खो देते हैं। लेकिन कृष्ण को अर्पित भोजन पाप मुक्त होता है और जो इसे ग्रहण करता है, उसमें कृष्ण के लिए आकर्षण जागृत करता है।

प्राणवायु—शरीर में स्थित सूक्ष्म वायु; तथा इस वायु की गति।

मध्यम अधिकारी—भक्त जो श्रद्धा से भगवान की पूजा करता है, भक्तों के साथ मित्रता करता है, निर्दोष जनों में प्रचार करता है और नास्तिकों से दूर रहता है; मध्यम भागवत।

बुद्ध—भगवान कृष्ण के अवतार, बौद्ध धर्म के संस्थापक, जिनका जन्म २५ शताब्दी पूर्व हुआ था और नास्तिकों को भ्रम में डालने के लिए और उन्हें यज्ञ के लिए अनावश्यक पशुबलि से रोकने के लिए वे प्रकट हुए थे। २५०० वर्ष पहले भगवान् विष्णु ने शक्तिसंचारित अधिकृत जीव को भेजा था, जो कि 'बुद्ध' के नाम से जाने जाते हैं। सिद्धार्थ गौतम के रूप में उन्होंने राजा शुद्धोदन के पुत्र के रूप में कपिलवस्तु (वर्तमान के नेपाल) में जन्म लिया था। उन्नतीस वर्ष की आयु में उन्होंने संन्यास लिया और अहिंसा के धर्म और "शून्यता" का प्रचार किया। उन्होंने उस समय के कर्म मीमांसा दर्शन का विरोध किया, जो कि वैदिक ज्ञान को विकृत बना रहा था और साथ ही अत्यधिक मात्रा में हो रहे पशुबलि को बढ़ावा दे रहा था। बुद्ध की शिक्षाएँ चार प्रमुख सिद्धान्तों पर आधारित हैं। (१) भौतिक जीवन दुख एवं कष्टपूर्ण है। (२) एक समुदाय भौतिक जीवन का कारण है। (३) क्योंकि यदि कारण है, तो निरोध भी हो सकता है अर्थात् भौतिक अस्तित्व का निराकरण हो सकता है। (४) 'मार्ग' अर्थात् धर्म परायण (सदाचार) के मार्ग का उन्होंने स्वयं के उदाहरण द्वारा बताया। लेकिन लोगों को पशुबलि से दूर रखने के लिए उन्होंने शास्त्रों को घूमाफिराकर प्रस्तुत किया। उन्होंने वेदों का, आत्मा का और भगवान् का निषेध (विरोध) किया। उनके तिरोभाव के बाद कई बौद्ध धर्म के शिक्षा देनेवाले विद्यालय खुल गये।

ब्रह्म—(१) अति सूक्ष्म आध्यात्मिक व्यक्तिगत आत्मा, (२) निराकार, भगवान् का सर्वव्यापक पहलू, (३) पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, (४) महत्तत्त्व या समग्र भौतिक पदार्थ; संस्कृत भाषा के अनुसार इसका मूल शब्द "ब्र" है जिसका तात्पर्य है बढ़ना या विकसित होना। छान्दोग्य उपनिषद् ३.१४ में

ब्रह्म का तात्पर्य "तज्जलान्" (तत्) अर्थात् जिससे संसार की उत्पत्ति होती हैं (ज) जिसमें वह विलिन हो जाता है (ल) और जिसमें यह जीवित रहता है (अन्) निर्विशेषब्रह्मवादी ब्रह्म और ब्रह्मज्योति को एक ही मानते हैं। लेकिन पूर्ण रूप से ब्रह्म एक वस्तु है, संसार का वास्तविक तत्त्व है (१) विष्णु परमात्मा के रूप में (परम ब्रह्म)। (२) व्यक्तिगत आत्मा अधीनस्थ आत्मा (जीव ब्रह्म) के रूप में तथा (३) पदार्थ—सृजनात्मक स्वभाव के रूप में महद्ब्रह्म सभी वैष्णव विचारधाराओं द्वारा विष्णु को दिव्य और असीमित पुरुषोत्तम (परम पुरुष) के रूप में स्वीकार किया जाता है।

ब्रह्मज्योति—भगवान के शरीर से निकलता हुआ प्रकाश-पुंज जिससे आध्यात्मिक जगत् प्रकाशित होता है।

भक्त—भगवान का भक्त; जो आध्यात्मिक सेवा (भक्ति) सम्पन्न करता है।

भगवान्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जो समस्त ऐश्वर्यों से परिपूर्ण हैं जैसे धन, सुन्दरता, बल, ज्ञान, यश और त्याग; पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में, आध्यात्मिक जगत के परम पुरुष, छ: भग (ऐश्वर्यों) को असीमित मात्रा में वान् (धारण) करने वाले। धन (ऐश्वर्य), बल (वीर), प्रसिद्धि (यश), सुन्दरता (श्री) ज्ञान (ज्ञान और वैराग्य)।

महाभागवत—आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम स्तर में भगवान् का शुद्ध भक्त। उत्तम

माया—मायावाद दर्शन। संस्कृत भाषा के अनुसार मायावाद का तात्पर्य माया की शिक्षा है। भारत में बुद्ध और शंकराचार्य के दर्शन मायावाद कहलाते हैं। दूसरे का विकास पहले में से हुआ है। दोनों के द्वारा स्वीकृत मूल सिद्धान्त हैं : (१) नाम, रूप, व्यक्तिगतता, विचार, इच्छा और शब्द सभी माया से सृजित होते हैं, भगवान् से नहीं। (२) माया को तर्कसंगत रूप से समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि किसी भी विचार को समझने की आवश्यकता ही स्वयं माया है। (३) व्यक्तिगत जीव या आत्मा सनातन नहीं है, क्योंकि मुक्ति होने पर उसके अस्तित्व का अन्त आ जाता है। (४) माया की तरह ही मुक्ति को भी स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इन दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि शंकराचार्य का मायावाद सिद्धान्त यह सूचित करता है कि माया से परे एक स्थायी निर्विशेष वास्तविकता—ब्रह्म विद्यमान है, जिसकी प्रकृति है—आत्मा। किन्तु बौद्ध धर्म का उद्देश्य निरोध को पाना है। इन दोनों में से शंकराचार्य का मायावाद ज्यादा खतरनाक है, जो कि अपनी सत्ता वेदों के आधार पर अर्जित करता है। बहुत सारी शब्द-जाल द्वारा शंकराचार्य के मायावाद को सही बताने का प्रयास किया गया है, किन्तु अन्ततः मायावादी लोग यह निष्कर्ष निकालकर वैदिक सत्ता से विरूद्ध हो जाते हैं कि परमेश्वर को शब्द के द्वारा नहीं जाने जा सकते हैं, कृष्ण का नाम भौतिक शब्द-ध्वनि है, कृष्ण का रूप माया है, इत्यादि।

शंकरवादी बौद्ध धर्म की तरह स्वीकार करते हैं कि नाम तथा रूप सिर्फ माया हैं। अत: वैष्णव दोनो प्रकार के मायावाद को नास्तिक मानते हैं। बौद्ध लोग मानते हैं कि वे नास्तिक हैं, जबकि शंकरवादी मायावादी स्वयं को आस्तिक मानते हैं। जबकि वास्तव में वे दोनों ही ब्रह्मवादी और सर्वेश्वरवादी हैं। स्वयं को आस्तिक बताने वाले के विचार का उनकी इसी सोच से खण्डन हो जाता है कि भगवान् स्वयं माया के अधीन होते हैं और बद्ध आत्मा बन जाते हैं। शंकराचार्य का मायावाद पश्चिमि सिद्धान्त कि आत्मा ही सच्चे ज्ञान प्राप्ति की साधन है, के समान हैं। इसी सिद्धान्त की वजह से अन्त में यह दार्शनिक रूप से समाप्त हो जाता है। और कुछ प्रश्न सिर्फ प्रश्न ही

रह जाते हैं, जैसे यदि चेतना ही एकमात्र वास्तविकता है, तो मैं सिर्फ विचार द्वारा ही मेरी इच्छा से ब्रह्माण्ड को क्यों नहीं बदल सकता? और यदि मेरा आत्मा ही एकमात्र वास्तविकता है, तो मैं मेरे जीवन ज्ञान तथा सुख के लिए ऐसे जगत पर क्यों निर्भर हूँ, जो ऐसे जीवों से भरा है, जो इस वास्तविकता का स्वीकार करने के लिए मना करते हैं?

माया—भ्रम; भगवान कृष्ण की एक शक्ति, जो जीवात्मा को भगवान् का विस्मरण करा देती है। जो नहीं है वह, अवास्तविकता, धोखा, विस्मरण, भौतिक भ्रम। भ्रम में मनुष्य सोचता है कि वह इस अस्थायी भौतिक जगत में सुखी रह सकता है। इस भौतिक जगत का स्वभाव ऐसा है कि व्यक्ति जितना अधिक भौतिक स्थिति पर प्रभुत्व जताना चाहता है, वह उतना ही अधिक माया की जटिलताओं में फँस जाता है। यह एक संस्कृत शब्द है, जिसके कई अर्थ होते हैं। इसका अर्थ हो सकता है, शक्ति। योगमाया एक आध्यात्मिक शक्ति है, जो वैकुण्ठ जगत के दिव्य प्राकट्य का पोषण करती है, जबकि छायारूप महामाया भौतिक जगत की शक्ति है। भगवान की दोहरी माया जीव को मोहग्रस्त कर देती है, जबकि माया का तात्पर्य भ्रम या मोह भी है। दिव्य मोह प्रेम में होता है, जिसमें भक्त भगवान को स्वामी, सखा, आश्रित और प्रियतम के रूप में देखता है। जीवात्मा में ब्रह्मज्योति के तेज से आकर्षित होने पर भौतिक मोह उत्पन्न होता है। उसी आकर्षण की वजह से वह भौतिक प्रकृति के गुणों में बंध जाता है। भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार माया वह है जिसे मापा जा सके। वह भगवान् की प्रकृति का गुण है कि वह भौतिक वैज्ञानिकों की बुद्धि हर लेती है। वैष्णव और मायावाद के अनुसार माया की परिभाषा अलग-अलग है।

माययापहृत ज्ञान—जिनका ज्ञान मोह द्वारा हर लिया गया है।

मूढ़—मूर्ख या बेवकुफ गधे जैसा व्यक्ति।

मृत्यु लोक—मृत्यु का स्थान, भौतिक जगत।

योग भ्रष्ट—आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से च्युत आत्मा।

वर्णाश्रम धर्म—वैदिक शास्त्रों में चार सामाजिक एवं चार आध्यात्मिक वर्ग, जो भगवान् कृष्ण द्वारा भगवद्गीता में बताये गये हैं।

विकर्म—पापपूर्ण अथवा निषिद्ध कार्य, जो प्रामाणिक शास्त्रों की आज्ञा के विरूद्ध सम्पन्न किया जाता है।

विद्या—ज्ञान

विष्णु-तत्त्व—भगवान् के समान पूर्ण शक्ति से युक्त, कृष्ण के प्रमुख विस्तार। इसका प्रयोग पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के मुख्य अवतारों के लिए किया जाता है।

वेद—श्रील व्यासदेव द्वारा मूल वेदों को चार भागों में बाँटा गया है। चार मूल वैदिक शास्त्र, संहिता (ऋगवेद, सामवेद, अथर्ववेद, यर्जुवेद) और १०८ उपनिषद, महाभारत, वेदान्त-सूत्र इत्यादि। ज्ञान की सनातन पद्धति को श्रील व्यासदेव द्वारा रचा गया है, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार हैं। इसका उद्देश्य समग्र मानव जाति की बन्धन की अवस्था से मुक्तावस्था तक क्रमिक उन्नति कराना है। वेद शब्द का अर्थ है "ज्ञान," और इस प्रकार विस्तृत अर्थ में यह समस्त ऐसे भारतीय संस्कृत धार्मिक साहित्य का निर्देश करता है, जो मूल चार वेद तथा उपनिषदों के निष्कर्ष के साथ तालमेल रखता है। दिव्य जगत का सन्देश, जो ध्वनि के माध्यम द्वारा इस भौतिक जगत में प्रदान किया गया है, उसे वेदों के रूप में जाना जाता है। यह स्वयं भगवान् की वाणी होने के कारण वेदों का असित्व सनातन काल से रहा है। भगवान् कृष्ण ने मूल रूप से वेदों को ब्रह्मा के समक्ष प्रकट किया था। ब्रह्मा भौतिक जगत में प्रकट होने वाले सर्वप्रथम जीव हैं और उनके माध्यम से ही यह ज्ञान अन्य जीवों को गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा उपलब्ध कराया गया। वेद शब्द की संस्कृत धातु विद् है, जिसका अर्थ है ज्ञान। इस धातु का प्रचलन आधुनिक पाश्चात्य भाषा में भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, विडीयो (लेटिन शब्द "देखना" पर से) तथा आइडिया, विचार (Gr. ida) इत्यादि। "वैदिक" पद वैदिक साहित्य की शिक्षा का निर्देश करता है। इन ग्रन्थों में से हमें ज्ञात होता है कि यह ब्रह्माण्ड और साथ ही ऐसे अनगिनत अन्य ब्रह्माण्ड महाविष्णु के श्वसन से १५५,२५०,०००,०००,००० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे। भगवान् के दिव्य श्वसन के द्वारा मानवजाति को समस्त ज्ञान प्रदान किया गया, जिससे सभी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और साथ ही सुप्त भगवद्भावना भी पुनर्जागरित हो सके। यह ज्ञान वेद कहलाता है। चतुर्मुख ब्रह्मा, जो इस ब्रह्माण्ड के प्रथम सृजीत जीव हैं, उन्होंने भगवान् विष्णु से वेद प्राप्त किये। ब्रह्मा ने भगवान् क आज्ञाकारी सेवक के रूप में कार्य करते हुए समस्त ग्रह मण्डलों को विविध जीवों से भर दिया। उन्होंने अपने प्रत्येक मुख से चार वेद कहे, जिससे मनुष्यों की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति हो सके। इस प्रकार हमें पता लगता है कि वेद ब्रह्माण्ड के प्रारम्भ से ही असित्व में हैं। वैदिक शिक्षा के सबसे महत्त्वपूर्ण उपदेशों में से कुछ इस प्रकार हैं: (१) प्रत्येक जीव एक शाश्वत आत्मा है, जो भौतिक शरीर से आच्छादित है। (२) जब तक आत्मा माया के द्वारा मोहग्रस्त है (अर्थात् शरीर की पहचान आत्मा के साथ करता है), तब तक उसे जन्म-जन्मांतर तक एक शरीर में से दूसरे में देहान्तरण करना पड़ता है। (३) भौतिक शरीर स्वीकार करने का अर्थ है, जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि रूप चार कष्टों को सहना। (४) मनुष्य जीवन में कर्म के गुण के अनुसार आत्मा अगला जन्म मनुष्य योनि में अथवा इससे निम्न या उच्च योनि में ले सकता है या वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त भी हो सकता है। (५) वैदिक आदेशों के अनुसार विष्णु को समर्पित यज्ञ के रूप में किया गया कर्म आत्मा को मुक्त करता है।

वेदवादरत—वे लोग, जो वेदों की अपनी व्याख्या देते हैं।

वैकुण्ठ लोक—विविधता से पूर्ण आध्यात्मिक ग्रह जो ब्रह्मज्योति में स्थित हैं।

वैश्य—श्रमिक या व्यापारिक वर्ग के सदस्य, चार सामाजिक एवं चार आध्यात्मिक विभागों के अनुसार।

शुचि—आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत ब्राह्मण।

शुद्ध—स्वच्छ (अस्वच्छता से रहित)

शुद्र—चौथे सामाजिक वर्ग का सदस्य, श्रमिक वर्ग, पारम्पारिक वैदिक समाज के वर्गों में जिसका प्रमुख कार्य अन्य तीन वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, एवं वैश्य) की सेवा करना है।

श्रीमत्—वैश्य, व्यवसायिक समुदाय का सदस्य।

श्रुति—श्रावण द्वारा ज्ञान, वास्तविक वैदिक शास्त्र। सीधे भगवान द्वारा प्रदान किये गये वेद और उपनिषद्।

सगुण—"विविधता एवं गुणों से परिपूर्ण।" पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के सम्बन्ध में इससे तात्पर्य है कि उनमें आध्यात्मिक एवं दिव्य गुण हैं।

सच्चिदानन्द विग्रह—भगवान् का दिव्य स्वरूप जो सनातन एवं ज्ञान तथा आनन्द से परिपूर्ण है। जीवात्मा का सनातन दिव्य स्वरूप।

सत्—शाश्वत, असीमित, अस्तित्व।

सुर—देवता, भक्त।

श्लोकानुक्रमणिका

निम्नलिखित सूची में *श्रीईशोपनिषद्* के श्लोकों की प्रत्येक पंक्ति संस्कृत वर्णमाला के क्रमानुसार छाँटकर दी गई है। प्रथम स्तम्भ में श्लोकों की पंक्तियाँ दी गई हैं। दूसरे स्तम्भ में श्लोक क्रमांक तथा तीसरे स्तम्भ में पृष्ठ क्रमांक दिये गये हैं। श्लोकों का वर्गीकरण संस्कृत वर्णमाला के अनुसार इस क्रम से किया गया है :

ॐ अँ अं अ: अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ अॅ ओ औ ऑ
क् ख् ग् घ् ङ्   च् छ् ज् झ् ञ्   ट् ठ् ड् ढ् ण्
त् थ् द् ध् न्   प् फ् ब् भ् म्   य् ऱ् ल् व्.
श् ष् स् ह् ळ्   ।(विराम) ऽ(अवग्रह)

सूचना :

क = क्अ   का = क्आ   कि = क्इ   कृ = क्ऋ
क्ष = क्ष   ज्ञ = ज्ञ   श्र = श्र   शृ = शृ = श्ऋ
श्व = श्व   श्च = श्च

ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥ १७ ॥	मंत्र सत्रह	१११
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।	ईश-स्तुति	१
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि	मंत्र अठारह	१२२
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।	मंत्र नौ	४९
अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।	मंत्र बारह	७०
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।	मंत्र दस	५५
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।	मंत्र तेरह	७८
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।	मंत्र चार	२२
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥	मंत्र ग्यारह	६२

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।	मंत्र तीन	१७
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥ १० ॥	मंत्र दस	५५
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥	मंत्र तेरह	७८
ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।	मंत्र एक	५
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥	मंत्र दो	१२
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्	मंत्र आठ	४२
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।	मंत्र दो	१२
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥	मंत्र पन्द्रह	९७
तत् ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥	मंत्र सोलह	१०५
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥	मंत्र सात	३७
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ ९ ॥	मंत्र नौ	४९
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥ १२ ॥	मंत्र बारह	७०
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥	मंत्र पाँच	२६
तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।	मंत्र पाँच	२६
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥	मंत्र चार	२२
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥	मंत्र तीन	१७
तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं	मंत्र सोलह	१०५
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥ १ ॥	मंत्र एक	५
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥	ईश-स्तुति	१
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य	मंत्र सोलह	१०५
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।	मंत्र आठ	४२
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।	मंत्र छह	३२
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।	मंत्र सात	३७
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥	मंत्र आठ	४२
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥	मंत्र अठारह	१२२
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।	मंत्र सत्रह	११
विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳ सह।	मंत्र ग्यारह	६२
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥	मंत्र चौदह	८९
व्यूह रश्मीन् समूह	मंत्र सोलह	१०५
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-	मंत्र आठ	४२
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयꣳ सह ।	मंत्र चौदह	८९
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥	मंत्र छह	३२
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।	मंत्र पन्द्रह	९७

उद्धृत श्लोकों की अनुक्रमणिका

निम्नलिखित सूची में *श्रीईशोपनिषद्* के श्लोकों की प्रत्येक पंक्ति संस्कृत वर्णमाला के क्रमानुसार छाँटकर दी गई है। प्रथम स्तम्भ में श्लोकों की पंक्तियाँ दी गई हैं। दूसरे स्तम्भ में श्लोक क्रमांक तथा तीसरे स्तम्भ में पृष्ठ क्रमांक दिये गये हैं। श्लोकों का वर्गीकरण संस्कृत वर्णमाला के अनुसार इस क्रम से किया गया है :

ॐ अँ अं अः अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ अॅ ओ औ ऑ

क् ख् ग् घ् ङ्　च् छ् ज् झ् ञ्　ट् ठ् ड् ढ् ण्

त् थ् द् ध् न्　प् फ् ब् भ् म्　य् र् ल् व्

श् ष् स् ह् ळ्　।(विराम)　ऽ(अवग्रह)

सूचना :

क = क्अ　का = क्आ　कि = क्इ　कृ = क्ऋ

क्ष = क्ष　ज्ञ = ज्ञ　श्र = श्र　श्रृ = शृ = श्ऋ

श्व = श्व　श्च = श्च

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।	मंत्र पन्द्रह	९८
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मै	मंत्र पन्द्रह	१०२
अविद्या-कर्म-संज्ञान्या त्रितीया शक्तिरिष्यते॥	मंत्र चौदह	९१
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।	मंत्र तेरह	८२
अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।	मंत्र चौदह	९५
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥	मंत्र बारह	७०
आनन्दमयोऽभ्यासात्।	मंत्र सात	३९
आनन्दमयोऽभ्यासात्	मंत्र पन्द्रह	९८
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।	मंत्र बारह	७३

आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।	मंत्र तेरह	८७
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥	मंत्र तेरह	८२
इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या	मंत्र पन्द्रह	९९
एको वशी सर्वगः कृष्णऽईडयः एकोऽपि सन्बहुधा	मंत्र चौदह	९४
एवं परम्पराप्राप्तम्	मंत्र बारह	७६
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।	मंत्र तेरह	८०
किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कशा	मंत्र तेरह	८७
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।	मंत्र पन्द्रह	१०१
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥	मंत्र पन्द्रह	१०१
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥	मंत्र सोलह	१०६
चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-	मंत्र सोलह	१०६
जन्माद्यस्य यतः।	भूमिका	*xviii*
जन्माद्यस्य यतः	मंत्र तेरह	८४
तं तमैवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥	मंत्र सत्रह	११५
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योति-	मंत्र पन्द्रह	१०२
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं	मंत्र पन्द्रह	१०१
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं	मंत्र पन्द्रह	१०२
तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।	मंत्र सत्रह	११९
तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।	मंत्र ग्यारह	६९
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥	मंत्र पन्द्रह	१०२
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।	मंत्र अठारह	१२५
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।	मंत्र तेरह	८७
दास्यं गतानां परदैवतेन।	मंत्र पन्द्रह	९९
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥	मंत्र अठारह	१२५
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं	मंत्र पन्द्रह	१०२
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।	मंत्र बारह	७०
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।	मंत्र पन्द्रह	१०२
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।	मंत्र चौदह	९२
पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।	मंत्र पन्द्रह	१०२
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।	मंत्र पन्द्रह	९७
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म	मंत्र पन्द्रह	१०२
मत्तः परतरं नान्यत्।	मंत्र पन्द्रह	९८
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥	मंत्र बारह	७३

माययापहृत-ज्ञान .... मंत्र नौ ५३
मायाश्रितानां नरदारकेण .... मंत्र पन्द्रह ९९
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। .... मंत्र सत्रह ११५
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ .... मंत्र चौदह ९२
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ .... मंत्र अठारह १२६
यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि .... मंत्र पन्द्रह १०१
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः .... मंत्र तेरह ८७
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्। .... मंत्र सोलह १०६
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं .... मंत्र सोलह १०६
वासुदेवः सर्वम् इति .... मंत्र पन्द्रह १०४
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् .... मंत्र अठारह १२५
विद्यायां रताः .... मंत्र नौ ५२
विरजं ब्रह्म निष्कलम्। .... मंत्र पन्द्रह १०२
विष्णु शक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा। .... मंत्र चौदह ९१
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ .... मंत्र पन्द्रह ९८
वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ .... मंत्र पन्द्रह १०२
वेदवादरत .... मंत्र नौ ५२
वेदान्त-कृद् वेद-विद् एव चाहम्। .... भूमिका *xvii*
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ .... मंत्र पन्द्रह ९७
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥ .... मंत्र तेरह ८७
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥ .... मंत्र ग्यारह ६९
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥ .... मंत्र सत्रह ११९
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥ .... मंत्र पन्द्रह ९९
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ .... मंत्र तेरह ८०
सर्वधर्मान् परित्यज्य मां एकं शरणं व्रज। .... मंत्र चौदह ९४
स्तद्यदात्मविदो विदुः॥ .... मंत्र पन्द्रह १०२
स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य .... मंत्र अठारह १२५
हिरण्मये परे कोशे .... मंत्र पन्द्रह १०२

शब्द-सूची

निम्नलिखित सूची में इस ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण विषयों की शब्द-सूची वर्णमाला के अनुसार छाँटकर दी गई है। प्रत्येक पद के सामने पृष्ठ क्रमांक दिये गये हैं, जिसमें **मोटे टाइप** वाले पृष्ठ क्रमांक 'अनुवाद' मे आये हुए सन्दर्भ का निर्देश करते हैं।

अकर्म, १३, १४
अक्रूर, ११९
अज्ञानता
  और इन्द्रियतृप्ति, ५०, ६७
  का कारण भगवान के अस्तित्व को भुलाना, ५०
  के कारण भगवान् को निर्विशेष समझना, ७४
  का गुण, ८७
  को भगवान दूर करते हैं, ११०
  वैज्ञानिकों द्वारा, ९०
अघासुर, ४७, ९८-९९
आध्यात्मिक गुरु
  देखें : आचार्य
  के गुण, xv
  और ज्ञान का अनुशीलन, ५६
  के पास जाने की अनिवार्यता, xv
  और पूजा का फल, ७९
  छद्म, ८०-८६
  और विधि-विधान, ६१
  और वैदिक ज्ञान की समझ, ५२, १२६
आध्यात्मिक जगत
  अतरंगा शक्ति के रूप में, २३
  में ग्रह, ७४, ७५, ९३
  में प्रकाश, १०२
  की प्राप्ति, ७४, ७९, ८९, ९३
  और भगवान का अकल्पनीय स्वभाव, २७
आध्यात्मिक जगत (चालू)
  और भौतिक ज्ञान, xi, ८९-९०
  और विकर्म, १२३
अध्यात्मवादी, तीन प्रकार के, xiii, १०४
अनुपश्यति का अर्थ, ३४
अमरता, **६२**, ६३
अथर्व वेद, (xvi, ८२)
अर्चाविग्रह; देखें : विग्रह
अर्जुन, ६१, ८०-८१, ८४, ११९
अविद्या
  का अनुशीलन, ५०, ५१, ५६, ६२, ६६-६७
  और आध्यात्मिक सेवा, ६९
अव्यक्त का अर्थ, ९२
असुर, १८, २०-२१
आचार्य
  द्वारा अनुसरण, ३४
  और अर्चाविग्रह, ४३
  के अवगुण, ८४
  देखें : आध्यात्मिक गुरु
  और छद्म-धर्मध्वजी, ७५
  और वेद-वादरत, ५२
आदित्य, ८३
आधुनिक सभ्यता
  और आत्म-साक्षात्कार, १९, ५१
  और आर्थिक विकास, ६८
  और इन्द्रियतृप्ति, ५१, ६६-६७

आधुनिक सभ्यता (चालू)
ईश्वरविहीन, ४०, ५०
में शिक्षा, ५०, ५८
श्रमिकों और पूंजीपतियों में झगड़ा, ८
आत्म-साक्षात्कार,
और ज्ञान, ५१
अपूर्ण, १९-२०
और आधुनिक सभ्यता, १९-५०
और रजो तथा अन्धकार, ८७
आत्मा
और उत्तम अधिकारी की दृष्टि, ३४
की तुलना वृक्ष की जड़ से, ८५
और प्राणवायु, ११३
और बुद्धि, ५१
का हत्यारा, १७, १८
आत्मा का देहान्तरण
और अपूर्ण आत्म-साक्षात्कार, १९
असुर, २०-२१
और आत्मा का हनन करने वाला, १७
और कार्यों की गुणता, १३, १६, ११४
और छद्म अवतारी, ७४
और छद्म धर्मध्वजी, ७४
और जीवात्मा की इच्छा, ११२
और प्रकृति का नियम, १३
और मानव जीवन, १९
का विकास क्रम, ११२
आर्थिक विकास, ६८
इन्द्र, ८२
इन्द्रिय
अध्यात्मिक, जीवात्माओं की, ६६
अपूर्ण रूप में, ६
के ऊपर बुद्धि, ५१
को बोधरहित होना, १२०
और भक्तिमय सेवाएँ, १२१
भगवान की, ४३-४४, १२१
इन्द्रियतृप्ति
और आधुनिक सभ्यता, ५०, ५१, ६७, ६८
और आर्थिक विकास, ६८
का उद्देश्य, ६८
और देहान्तरण, ११३
और धर्म, ६८-६९
और नियम पालन ६६-६७
और पूर्णता, ३
इन्द्रियतृप्ति (चालू)
और भौतिक शरीर, ११२
और वेद, ६८-६९
उत्तम-अधिकारी, ३३, ३७-३८
उपनिषद्, xvii, १४, २४, ३५, ८६
ऋग्वेद, xvi, १७
कठोपनिषद्, ११०
कलियुग, xvi
कनिष्ठ अधिकारी, ३२, ४५
कर्म, ३
कर्मयोग, १६
कर्मी, ५०, ९३, १०४
कष्ट (दु:ख)
और ईशप्रेम, ६५
का उद्देश्य, ६६
निरन्तर, ८५
और बुद्धि, ५८-५९
और भगवान के प्रति शरणागति, ४१
और भौतिक जगत, ७३
और भौतिक शरीर, ५६
कारण सागर, १०१
कारणोदकशायी विष्णु, १०१
कार्य, १२. १३-१६
कुरुक्षेत्र, युद्ध स्थल, ८४
केनेडी, जान. एफ, viii
कृष्णभावनामृत आन्दोलन (संघ), xv
कृष्णलोक, ७४
क्षत्रिय, ix
क्षीरोदकशायी विष्णु, १०१
गर्भोदकशायी विष्णु, १०१
गाँधी महात्मा, vii-viii
गीतोपनिषद् देखें : *भगवद्गीता*
गोपाल तपनी उपनिषद् , ९४
गोपियाँ, ४७
गोबर, ix
गोलोक वृन्दावन , ७४, १०६
गोवर्धन पर्वत, ४७
गोविन्द-भाष्य, xvii
गौड़ीय वैष्णव, xvii
ग्वाल बाल, ९९
चैतन्य महाप्रभु , ४७
छद्म धर्मध्वजी, ७५
जन्म-मृत्यु का चक्र, ६५, ९२, ९४

देखें : आत्मा का देहान्तरण
जीव गोस्वामी, १०७
जीवात्मा
की अव्यक्त स्थिति, ९०, ९४
देखें : आत्मा का देहान्तरण,
की आध्यात्मिक इन्द्रिय, ६६
का आध्यात्मिक शरीर, ११३
का आनन्द, ६६
द्वारा आनन्द, ३९, ६६
की इच्छापूर्ति भगवान द्वारा की जाती है, ४३, ४५
उच्चतर शक्ति के रूप में, ७, ९०
गुण में भगवान के समान, ३८, १०५
तटस्थ शक्ति के रूप में, २३, ३९
की तुलना,
अग्नि से, ३८
बच्चों से, ४१
बूँद से, ३८
सूर्य की किरण से, १०६
हाथ से, ३
की तुलना भगवान के साथ, १०९
और दीर्घकालिन जीवन, १२, १६
की नित्यता, १३, ११२
के परमात्मा चिरसंगी, १०९
की पहचान, ११२
का पालन भगवान् द्वारा, ४१, ४६
और पूर्णता, ३
प्रकृति के नियम द्वारा नियन्त्रित, ६
द्वारा प्रभुत्व जताने की इच्छा, ५९, १०९, ११४
और प्रारम्भ, २४
द्वारा बन्धन, १३
भगवान् के अंश रूप में, ३९, ६५
भगवान् के विस्तार रूप में, १०९
का भाग (हिस्सा), ५, ७
द्वारा भौतिक जगत गतिमान, ६०
भौतिक शक्ति द्वारा आच्छादित, ९०
बद्ध, भौतिक रूप से, vii, ९४, १२६
और मृत्यु के समय, ११५, १२१
द्वारा विस्मरण, ३०, ४६, ५२, ६६
का सही दृष्टिकोण, ४०
की सीमाएँ, २४
का स्रोत ब्रह्मज्योति, १३
जीवात्मा (चालू)
के स्रोत भगवान, १०९
की स्वतन्त्रता, ४७
ज्ञान
और अधीर, ६०-६१
आध्यात्मिक (दिव्य) आचार्यों से, ७८-७९
अनुमानित, ix
अपर्याप्त, xv
द्वारा आध्यात्मिक जगत की प्राप्ति, ८९
की आरोह विधि, xiv
का उद्देश्य, ५१
छद्म धर्मध्वजी, ७५
की तुलना भौतिक से, ५८
और धीर, ६०-६१
और पथभ्रष्ट होने का खतरा, ४९-५१
और प्रत्यक्ष प्रमाण, xi
और बद्ध स्थिति, vii
और भक्तिमय सेवाएँ, ६९
और भगवान् की प्रार्थना, ४७
भगवान् की शक्तियों के बारे में, २३-२४
भौतिक और समस्याओं का हल, ६२
और भौतिक दोष, vii-viii, ६
और भौतिक सीमाएँ (बन्धन), xi-xiii
भौतिकता का, ९०-९१, ९५
और मानवीय विकास, ११३
और विधि-विधान, ७६-७७
देखें : वैदिक ज्ञान
की संस्कृति, ५५-५८, ६२, ६७, १०३
ज्ञानी, ९३, १०४
डार्विन चार्ल्स, xiii
तत्त्व भौतिक, ६-७
तपोलोक, ९३
देवकी, xiii
देवता
द्वारा ज्ञान, ७२
तटस्था शक्ति रूप में, २३
की पूजा, ७२, ७५, ७९
द्वारा ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण, २३
और भगवान् , २२, ३९, ४३
की शक्ति, ७२
दोष, भौतिक vii, viii, ६
द्विजबन्धु, xvi

धर्म, ५२, ५८, ६८-६९, ९४
धीर, ६०-६१
धोखेबाजी, ५६
नराधम, ६५
नाभिकिय बम, ९
नारद मुनि, xi, xvii, ३५
नारायण उपनिषद, ८३
नास्तिक, ३१, ३३-३४, ७४
निर्गुण, ३९
निर्विशेषवादी
अध्यात्मवादी के रूप में, xiii
और आध्यात्मिक सेवा , ११७
का छद्म अवतार, ७४
और छद्म धर्मध्वजी, ७४, ७५
और देवताओं की पूजा, ७५
द्वारा नास्तिकों को सहायता, ७४-७५
और भगवद्धाम, १०७
और भगवान् का स्वरूप, १०७
और मुक्ति, ४७
परम सत्य
का नकारात्मक बोध, ७१
के पहलू, तीन, ६९, ९८
से प्रत्येक वस्तु उद्भूत, (xviii)
साकार रूप में, २४, १०७
परमात्मा, ६९
के नियामक कार्य, १०९
पुरुष अवतार के रूप में, १०१
और भौतिक जगत, १००
और मानसिक तर्कवादी, ७१
का साक्षात्कार, २, ९९, १०३, १०७
के स्रोत भगवान, ९९, १०३-०४
परीक्षित महाराज, ११८
पापमय कार्यकलाप, ११, ४७-४८, १२४
पापमय कार्यों का फल, १२२, १२३
पारिवारिक जीवन, ५८
पितर, ७९
पुतना, ९८-९९
पुराण, xvii, xiii, ५२, ६३
में पुष्टि की गयी है
कृष्ण और ग्वाल बाल के बारे में, ९९
निम्नजन्मा व्यक्ति के शुद्ध बनने के बारे में, ८७
भक्तिमय सेवा के बारे में, ६९
में पुष्टि की गयी है (चालू)
भगवान् द्वारा भक्तों के साथ प्रेमपूर्वक आदान-प्रदान के बारे में, १२५
भगवान् के श्रवण-कीर्तन के बारे में, ८७, ११९
पूँजीपति, ८
पूजा
कृष्ण की, ८३, ८४
देवताओं की, ७२-७५, ७९
का परिणाम, ७९, ८१
मानवता की, ८५
पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्
का अवतार, छद्म, ७४
आत्मनिर्भर, ६७
के आधिपत्य का साक्षात्कार, १४
द्वारा इच्छापूर्ति ४१, ४५
का उत्पत्ति अवतार, पूर्ण रूप में, ३-४
की उत्तमता, २२
का उपहास, २८. ४५, ९४
के ऐश्वर्य, ७
के कार्यकलाप, ८७, १२०
द्वारा किये गये पुराण, ६५
की कृपा, २२-२३, ४६
की गति, **२२,** २७
को जानने की योग्यता, २३, २४, ८४, ११०
और जीवात्माएँ, (देखें : जीवात्माएँ)
का तिरस्कार, २७
की तुलना
अग्नि से, ७, २३, ३९
पिता से, ४१
शरीर से, २-३
समुद्र से, ४१
सूर्य से, ४८, ७४, १०५
और देवता, २२, ३९, ७२
का धाम, १०६
देखें : आध्यात्मिक जगत
नियन्ता के रूप में, ६-७
का निराकार तत्त्व, ७४-७५
का निराकार पहलू, ४४
निर्गुण पहलू के रूप में, २९
और पापमय कार्यकलाप, ४७-४८, २२-२३

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (चालू)
पालनकर्ता के रूप में, ४६, ९९, १०७, १०८
पूर्ण रूप में, १-४
और प्रकृति के नियम, ९
द्वारा प्रदत्त मुक्ति, ७३
अपने प्रामाणिक सेवकों को भेजते हैं, भौतिक संसार में, ६५
को प्रार्थनाएँ, **९९, १०४, १११,** ११६, **१२२-**२३
के लिए प्रेम, ११६
ब्रह्मज्योति द्वारा आच्छादित, १००-०१, १०६, १२३
और ब्रह्माण्ड का प्रबन्ध, १०१
और भक्त, देखें : भगवान् के शुद्ध भक्त
द्वारा भोग, ३९, ४०-४१, १०८
महानतम् रूप में, ४६-४७
के रूप
की तुलना भौतिक रूप से, ४२-४३
और निर्विशेषवादी, १०७
और प्रकृति के नियम, ४२-४३
और भगवान की उत्पत्ति, २८
और भगवान की पूर्णता, २
विग्रह, २८, ४३
लाभ प्रदान करने वाले, ७
का वंश (उत्पत्ति) २८. ३०, ६६
के विरोधाभासी गुण, २९-३०
का विस्तार, १०८
की शुद्धता, ४१, ४८
के बारे में श्रवण कीर्तन, ८७, ११९, १२७
की श्रेष्ठता, ३८-३९
सगुण रूप में, २९
सभी कारणों के कारण, ८३, १०८
से सम्बन्धित दिखने पर, **३२-३३**
के साथ सम्बन्ध, पाँच, १००
सर्वज्ञ के रूप में, ७, ४२, ४६
की सर्वव्यापकता, ३१, ७४, १०१
सर्वशक्तिशाली के रूप में ४६, १२५
साकार रूप में, ४१
का साक्षात्कार पूर्ण रूप में, १०३, १०७
और सुर, २१
स्रोत
ब्रह्मज्योति के, ९९, १०१
पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्
स्रोत (चालू)
शक्ति के, २३-२४
की स्वतन्त्रता, ७१
स्वामी रूप में, ६, ९, ११, ५०, ५२
पुरुष अवतार, १०१, १०८-०९
प्रकृति का नियम,
की कठोरता, १९. ६२-६३, ६६
और कार्य, ९३
और जानवर (पशु), ९,१०
द्वारा जीवात्माओं पर नियन्त्रण, ६
और देहान्तरण, ९०
के लिए भगवान् की दिव्यता, २९
और भगवान् के प्रति शरणागति, ४०
और भगवान् के स्वरूप, ४२-४३
और मानवीय जीवन, ९-१०, १९
और स्वामित्व, ९
प्रकृति के गुण, ९४, ८७, १२७
प्रजापति, ८३
प्रत्यक्ष का तात्पर्य, xi
प्रलम्बासुर, ९८-९९
प्रह्लाद महाराज, ३०, ११९
प्रसाद, ११
प्राणवायु, १११, ११३
पृथु महाराज, ११९
बकासुर ४७, ९८-९९
बद्ध आत्मा viii, ६, ९४, १२२
देखें : जीवात्मा
बलदेव विद्याभूषण, xvii,
बलराम भगवान्, ४४
बलि महाराज, ११९
बुद्धि, ५१
ब्रह्मा
की उत्पत्ति कृष्ण द्वारा, ८३
और ब्रह्माण्ड का विनाश, ९२
और ब्रह्माण्ड की अवधि, ९२
की मृत्यु, ९०-९१
की लम्बी आयु, ९०-९१, ९२
की रात्री, ९२
और गुरु-शिष्य परम्परा, (xii, ६, ३५)
और हिरण्यकशिपु, ६३
ब्रह्मचर्य, ५८
ब्रह्मज्योति, देखें : ब्रह्म, निराकार

ब्रह्मलोक, ७३, ९३
ब्रह्मरन्ध्र, ११३
ब्रह्मसंहिता में बताया गया है,
  में पुष्टि की गयी है,
    ब्रह्मज्योति के बारे में, १०१
    भगवान् के धाम के बारे में, १०६
  भगवान्
    की इन्द्रिय शक्ति के बारे में, ४३-४४
    के प्रति मानसिक पहुँच के बारे में, २३
    के रूपों के बारे में, xv, ४३
    की व्यापकता के बारे में, २३, ३१
    ही समस्त कारणों के आदि कारण, ८३
  मन के बारे में, xiii
ब्रह्म, निराकार
  की अनुभूति, २, १०१, १०३, १०७, १०८
  गोलोक और १०६
  और ग्रह, ७४
  से जीवात्मा आता है, १०९
  में जीवात्माएँ, ११४
  और देवता और महर्षि, ७२
  और निषेधात्मक प्रक्रिया, ७१
  से पतन, ११४
  की पूजा, **७१**
  द्वारा भगवान् आच्छादित रहते हैं, १०२,
    १०७, १२३
  की रोशनी, १०२
  के लक्षण, ९९
  की व्यापकता, १०३
  और शुद्ध भक्त, **९७,** १०७
  के सृष्टा भगवान्, ३०, ७३, ९९, १०१,
    १०२, १०३, १०४
ब्रह्माण्ड, ७४, ९१, १०१
ब्राह्मण, (ix, २१, ८७, ११६, १२३)
भक्तिरसामृतसिन्धु, १६, ६९
भक्तिविनोद ठाकुर, ५८, ११७
भगवत्-सन्दर्भ, १०७
भगवद्गीता
  कृष्ण को लक्षित करती है, ८६
  की गलत व्याख्या, ८२-८३, ९४-९५
  का महत्त्व, ३५
  पर लिखा गया भाष्य, शंकराचार्य द्वारा, xiii
  को समझना, ८१

भगवद्गीता में बताया गया है,
  अध्यात्मिक आकाश के बारे में, २७
  अध्यात्मवादियों के बारे में, उनके प्रकार,
    १०४
  असुरों के बारे में, २१
  इन्द्रियतृप्ति के बारे में, ५०
  कर्म के बारे में, १३
  कर्मयोग के बारे में, १६
  कार्य के बारे में, १४
  ज्ञान के बारे में, संस्कृति के बारे में, ५५
  गुरु-शिष्य परम्परा के बारे में, xi
  छद्म धर्मध्वजी के बारे में, ७५
  जीवात्माओं के बारे में, ३९, ११७
  देवताओं की पूजा के बारे में, ७२, ७५, ८५
  निर्विशेषवादी के बारे में, ११८
  पतित अथवा योग भ्रष्ट आत्माओं के बारे
    में, २०, १२४
  परम सत्य कृष्ण के बारे में, ९८
  पूजा के बारे में, उसका परिणाम, ७९
  बुद्धि के बारे में, भौतिक ४६
  ब्रह्माजी के दीर्घकालिन जीवन के बारे में,
    ६३
  भक्तिमय सेवा के बारे में, १६
  भक्तों के अर्पण के बारे में, १०-११
  देखें : *भगवद्गीता*
  भगवान् के बारे में,
    द्वारा आदान-प्रदान के बारे में, २९, ८७
    उत्पत्ति के बारे में, ३१
    उपहास के बारे में, २८, ४५, ९४
    के ज्ञान के बारे में, ८४
    जानने की योग्यता के बारे में, २४
    व्यापकता के बारे में, १००
    की शक्ति के बारे में, ६, ९२
    की शरणागति के बारे में, ४०, ८२-
      ११४, १२४
    के स्वामित्व के बारे में, ६
  भ्रान्त शिक्षकों के बारे में, ५१
  मुक्त आत्मा के बारे में, ३६
  वेदों के उद्देश्य के बारे में, ५१
भगवद्गीता में पुष्टि की गयी है
  आध्यात्मिक जगत के बारे में, ९३
  ब्रह्मज्योति के बारे में, ९७
  भक्तिमय सेवा के बारे में, ११६

भगवद्गीता में पुष्टि की गयी है (चालू)
  देखें : भगवद्गीता में बताया गया है
  भगवान्
    और देवताओं तथा महर्षियों के बारे में,
      ७२
    के धाम, की प्राप्ति के बारे में, ७४
    पालनकर्ता के रूप के बारे में, ९९
    के प्रति शरणागति के बारे में, ९४
    स्रोत के रूप में, ८२
  भौतिक जगत के बारे में, ७३
  मृत्यु के बारे में, स्मरण करने पर, ११५
  वर्णाश्रम के बारे में, ix
  वेदों के उद्देश्य के बारे में, xv
  शिष्य परम्परा के बारे में, ७६, ८०
भगवद्गीता यथारूप, xiii
भगवान् का अर्थ, १०८
भगवान् की शक्ति
  का अकल्पनीय (अचिन्त्य) गुण, २६, २८,
    ३०
  अपरा, ६-७, २३, २८, ९१, १०८
  और अर्चाविग्रह, २८, ४३
  का ज्ञान २४-२५, १०३
  तटस्था, २३, ३९
  की तुलना अग्नि व ताप से, २३, २९
  परा, ७, २३, ९०, १०८-०९
  और पूर्ण ज्ञान, २४-२५
  की पूर्णता, २
  के लिए भगवान की दिव्यता, २९
  की श्रेणियाँ, २३
  और साक्षात् भगवान्, २४
  के साथ भगवान् का एकत्व, ३९
  सृजनात्मक शक्ति, २३, ५३, ५८
भगवान के प्रति भक्तिमय सेवाएँ
  द्वारा आध्यात्मिक जगत की प्राप्ति, ९३
  और इन्द्रियाँ, १२१
  की क्रियाएँ, नौ, ११८
  और निर्विशेषवादी, ११७
  और पापकर्मों के फल, १२४
  द्वारा प्राप्त ब्राह्मण के गुण, ८७
  द्वारा भगवत् प्रेम की प्राप्ति, ११५
  और भगवान् का ज्ञान, ८४
  द्वारा भगवान् तक पहुँचना, ९३
  और भौतिक कार्यकलाप, ११७

भगवान् के प्रति भक्तिमय सेवाएँ (चालू)
  द्वारा मुक्ति, ७६, ९३
  और सांसारिक बद्धता , १४७
भगवान् के प्रति शरणागति
  और ज्ञान, ४१, ७३, ११४
  और पापमय कार्य, १२३, १२४
  पूर्ण रूप से, १२५
  द्वारा पूर्ण साक्षात्कार, ११४-१५
  और प्रकृति का नियम, ४०
  और भगवान् की प्रशंसा, ४६
  और भगवान् द्वारा प्रेमपूर्वक आदान-प्रदान,
    २९, १२६
  भगवान् द्वारा निर्देश, ८२, ८७, ९९
  विरले ही, ४१
  द्वारा साक्षात्कार, १२३
भगवान् के भक्त
  अध्यात्मवादी के रूप में, xiii
  का अध्यात्मिक विकास, १२६-२७
  उत्तम अधिकारी के रूप में, ३३, ३६
  कनिष्ठ अधिकारी के रूप में, ३२
  के गुण, १२४-१२५
  का पालन भगवान् करते हैं, १०७
  और प्रकृति के गुण, ८७, १२७
  द्वारा भगवत् प्राप्ति, xiv
  द्वारा भगवद्गीता को समझना, ८१
  के लिए भगवान् अर्चाविग्रह रूप में प्रकट
    होते हैं, २८
  के साथ भगवान् का प्रेमपूर्वक आदान-
    प्रदान, २८-२९, १०७, १२५
  और भगवान् का वंश, ३१
  द्वार भगवान् का स्मरण, ११८
  द्वारा भगवान् के कार्यों का गुणगान, ११०
  द्वारा भगवान् को जान सकते हैं, २२, ७३
  द्वारा भगवान् को प्रार्थना, **९९, १०४,**
    १११, ११६, **१२२,** १२६
  मध्यम अधिकारी के रूप में, ३३
  और मृत्यु के समय, ११५, ११९
  की शुद्धि, ४८
  सर्वोच्च अध्यात्मवादी के रूप में, १०४
  द्वारा सांसारिकता, ११६
  की सुरक्षा भगवान् द्वारा, १२६
  का स्मरण भगवान् द्वारा, ११६

भगवान् के शुद्ध भक्त
के कार्यकलाप, ११०
और छद्म अवतार, ८६
और ब्रह्मज्योति, ९७, १०७
द्वारा भगवान् को अर्पण, ११
का भगवान् द्वारा स्मरण, ११६
के साथ भगवान् का प्रेमपूर्वक आदान-प्रदान, ११०
भगवान् कृष्ण
और अर्जुन, ६१, ८०-८१
का आधिपत्य, xiii
के कार्यकलाप, ४७, ९९
और गोपियाँ, ४७
की तरुणावस्था, xvi
और नारायण, ८३
की पूजा, ८३
द्वारा प्राप्त सुख, ९९
ही भगवान का वास्तविक रूप, ४४
के रूप, xvi
का विस्तार, ४४
ही वेदों के उद्देश्य, xvii
की वृन्दावन की लीलाएँ, ९९
और शंकराचार्य, xiii
द्वारा शक्ति प्रदर्शन, ४७
द्वारा शिष्य परम्परा पुन:स्थापित, ८०
का सर्वव्यापकता, xvi
ही स्रोत
परमात्मा के, ९९, १०४
ब्रह्मज्योति के, ९९, १०३, १०४
सभी वस्तुओं के, ८२
भगवान् नारायण, xiii, ३५
भगवान् नृसिंह, ३०, ४४, ६४
भगवान् रामचन्द्र, ४४
भगवान् वराह, ४४
भगवान् विष्णु, ८२
भगवान् शिव, ८३
भौतिक जगत
अल्पकालिन गमन, ७६, ९०-९१
में कष्ट, ७३
का ज्ञान, ८९-९०, ९५
जीवात्माओं द्वारा गतिमान, ६०
में टकराव (झगड़ा), ५१
की तुलना समुद्र से, १८

भौतिक जगत (चालू)
पूर्ण इकाई रूप में, २
में प्रभुत्व जमाना, ९४
बहिरंगा शक्ति के रूप में, २३
और भौतिक शक्ति, ९०
का विस्तार, ५९-६०
भ्रम (मोह), viii,६, २३, ५३, ६१
मध्यम अधिकारी, ३३, ३७-३८
मध्वाचार्य, xi, xiii
मन, xiv, २२, ५१, ५८-५९, ६९
महर्लोक, ९३
महर्षि, ७०-७१
महाभागवत, ३३, ३८
महाभारत, xvii
मानव जीवन
और अन्तरिक्ष यात्रा, ७४
की अवधि, ५९
का अवसर, १३, १६, ६५, ८५, १२४
में उत्तरदायित्व, १०, १६-१७, १९
का उद्देश्य, ६६, १९
का उपयोग, ३, १८-१९
और ज्ञान की संस्कृति, ६७-६९
की तुलना नाव से १८
और दण्ड, ९-१०
और पशुजीवन, १८-१९
की पूर्णता, ४
की प्राप्ति, ३, १८
और मासांहार, ११२
और वैदिक ज्ञान, ९
और समस्या का समाधान, २१
मानसिक चिन्तन, २४, २५, ४६
मानसिक तर्कवादी, ७१-७२, ८६
माया का अर्थ, xvii
मायायापहृत ज्ञान, ५३
मायावादी, xiii, देखें : निर्विशेषवादी
मासांहार, ११२
मुक्त आत्माएँ, vii, ३६, ८८
मुक्ति
आध्यात्मिक सेवा द्वारा, ७६, ९३, ९५
ज्ञान द्वारा, ८९
और निर्विशेषवादी, ४७
भगवद् धाम में, ४७, ७४, ९१
भगवान् द्वारा दिया गया ईनाम, ७२

मुण्डक उपनिषद्, ५३, १०२
मोक्ष-धर्म, ८३
यजुर्वेद, xvi, ६
योगी, ९३, १०४, ११०, ११३
रजोगुण, ८७
रामानुजाचार्य, xiii, xviii
राष्ट्रीयता, ५९
रासनृत्य, ४०
रुद्र, ८३
रूप गोस्वामी, १६, ६९
लक्ष्मी, ११९
वराह पुराण, ८३
वर्णाश्रम, ix,
वसु, ८२
वसुदेव, xiii
विधि-विधान, ६१, १२४
विकर्म, १३, १२३
विश्व-शान्ति, ९
विष्णु-पुराण, २३, ९१
विष्णु-स्वामी, xiii
वेद
का आधिपत्य, ix, xii
और इन्द्रियतृप्ति, ६८-६९
का उद्देश्य, ५१
की तुलना माता से, xi
में दीर्घायु के बारे में बताया गया है, ९३
और वर्णाश्रम, ix
वास्तविक ज्ञान के रूप में, vii
से विचलन, १४, १२४
की वितरण व्यवस्था, xi, xvi, ३५
और वेदवादरत, ५१
की व्याख्या, xvi-xvii
व्यासदेव द्वारा वर्गीकृत, xvi
का स्रोत, xi
और हिन्दुत्व, ix, x
वेदवादरत, ५१
वेद की परिभाषा, vii
वेदान्त का तात्पर्य, xviii
वेदान्त सूत्र, xviii, ३५, ३९, ८४
वैकुण्ठ लोक, ७९
वैज्ञानिक, आधुनिक, ९०
वैश्य, ix, २०, ११६
वैष्णव, देखें : भगवान् के भक्त

वैष्णव सम्प्रदाय, xiii
वैदिक ज्ञान,
का आधिपत्य, xv, ३५
का उद्देश्य, xvi
पूर्ण रूप में, ५-६
की प्राप्ति व्यवस्था, xi
और भौतिक सीमाएँ, xi-xii
और मानव जीवन, १०
और शिष्य परम्परा, xi, ३५
को समझना, १२६
का सार, xviii
का स्रोत, ५-६
वैदिक साहित्य
में अन्तरिक्ष यात्रा के बारे में बताया गया है, ७३
और कार्य, १४
और अमरता, ६४-६५
में कृष्ण को पाना, xv
की तुलना नाविक से, १८
पर भाष्य, ३५-३६
और शिष्य-परम्परा, ५३
में सम्मिलित पुस्तकें, xvii
वृन्दावन, ७४, ९९, १००, १०६, १०८
व्यासदेव, xvi, ३५, १०३
शंकराचार्य, xiii, xvii, ८३
शंकर सम्प्रदाय, xiii
शकटासुर, ४७
शरीर, भौतिक
का अस्तित्व (भाग्य), १११, ११३
और आध्यात्मिक ज्ञान की संस्कृति ६७
के कष्ट, ५६
और जन्म एवं मृत्यु, ६५, ६६
से जीवात्मा का गमन, ११२
और जीवात्माओं की इच्छा, ११२
की तुलना भगवान् के स्वरूप के साथ, ४२-४३
और धीर, ६०
का पालन पोषण, ६७, ११६
के साथ पहचान, (vii, ५६)
के सृष्टा ११२
शिष्य परम्परा, xi, ५-६, ३५, ५३, ७६, ८०
शुकदेव गोस्वामी, ११९
शुद्र, ix, xvi, ११६

श्रीमद्भागवतम्
की उपयोगिता, ३५
और ज्ञान, ६९
ज्ञान के सार के रूप में, ११९
में परम सत्य के बारे में बताया गया है (xviii)
और परीक्षित महाराज, ११९
में बताया गया है
जीवात्माओं द्वारा विस्मृति के बारे में, ४०
भगवान् के श्रवण-कीर्तन के बारे में के स्रोत के बारे में, ८४
में भगवान् की जानकारी, १०३
वेदान्त सूत्र भाष्य रूप में, xviii, ३५
और शुकदेव, ११९
श्रुति, xii
सकाम कर्म, ९०, १२३
सकाम कर्मी, ५०, ९३, १०४
समानता
अग्नि और जीवात्मा, ३८
अग्नि और भगवान्, ३८, २३, ७
ताप तथा प्रकाश और भगवान् की शक्ति, ७, २३, ३८
धूल के कण और ग्रह, ५९
नाव और मानव शरीर, १८
नाविक और वैदिक आचार्य, १८
नारियल और ब्रह्माण्ड, ७४
पिता और भगवान्, ४१
पेड़ की जड़ और आत्मा, ८५
बच्चे और जीवात्माएँ, ४१
बूँद और जीवात्मा, ३८
मणि और ज्ञान, ५१
माता और वेद, xi
वस्त्र और शरीर, ६६
शरीर और भगवान्, २-३
शव का शृंगार और भौतिक ज्ञान, ५१
समुद्र और भगवान् , ३८
समुद्र और भौतिक जगत, १८
सूर्य और भगवान् , ३०, ४८, ७४, १०५
सूर्य किरण और ब्रह्मज्योति, ३०
सर्प और नास्तिकता, ५०-५१
हाथ और जीवात्मा ३
सहनशीलता, ५६
सामवेद, xvi
साम्यवादी, ८
स्त्री, xvi, ११६
स्वर्ग, ५१
स्वर्ग लोक, ९३
हनुमान, ११९
हरि भक्ति सुधोदय, ५१
हिन्दुत्व, ix, x
हिरण्यकशिपु, ३०, ६३